रस-छन्दालंकार

रसों, प्रमुख अलङ्कारों और छन्दों का
मार्मिक परिचय
भाग २

लेखक
श्री डा० रामशङ्कर शुक्ल 'रसाल'
एम० ए०, डी० लिट्०
हिन्दी विभाग सागर विश्वविद्यालय— सागर
सम्पादिका
श्रीमती कमला अग्रवाल
एम० ए०, साहित्य-रत्न

प्रकाशक
गर्ग-ब्रदर्स
गर्ग-ब्रदर्स, ५ बैंक रोड, प्रयाग

प्रथम संस्करण] [मूल्य २)

वक्तव्य

प्रस्तुत-पुस्तक प्रयाग विश्वविद्यालय की बी० ए० की परीक्षा के निर्दिष्ट विधान पर तैय्यार की गई है। इसमें केवल निर्दिष्ट सामाग्री ही दी गई है। सब से प्रथम रस का संक्षिप्त परिचय इसलिये दिया गया है कि व्यापक-सिद्धान्त काव्य में इसकी ही प्रधानता देता है। प्रयत्न यह है कि रस-विवेचन सूक्ष्म और तात्विक रहे, केवल मूल भूत नियमों या बातों को यथासाध्य सरल-भाषा और शैली में समझाया जाय।

प्रारम्भ में काव्य की परिभाषा, विशेषतायें और काव्य के भेदोपभेद स्पष्ट किये गये हैं। प्राचीन-विचार-धारा के साथ ही आधुनिक काव्य-विचार का भी ध्यान रख तुलनात्मक प्रकाश भी डाला गया है।

दूसरे भाग में केवल निर्दिष्ट अलङ्कारों का संक्षिप्त-परिचय है, यहाँ भी तुलनात्मक दृष्टि-कोण है। उदाहरणों का बाहुल्य कलेवर-वृद्धि के भय से नहीं किया गया। अध्यापकों से निवेदन है कि वे अलङ्कार की परिभाषा को स्पष्ट करने के लिये यथारुचि पाठ्य-पुस्तकों से उपयुक्त पंक्तियाँ उदाहरणों के लिये चुनकर विद्यार्थियों के सम्मुख रक्खें और पाठ्य-पुस्तक के पढ़ाते समय पाठ में आये हुये अलङ्कारों की ओर उनका ध्यान आकर्षित करते जाँय और बालकों को प्रश्नों के द्वारा अलङ्कार-परिभाषा के घटित करने का अभ्यास करावें।

तृतीय भाग में प्रथम छन्द-शास्त्र-सम्बन्धी आवश्यक और ज्ञातव्य बातें देकर निर्दिष्ट-छन्दों का परिचय दिया गया है। विद्यार्थियों को चाहिये कि वे प्रत्येक छन्द की कम से कम एक पंक्ति या चरण याद रक्खें। उसी के आधार पर उस छंद का रचना-नियम निकाल लें। कुछ छंद-सम्बन्धी-दोष भी दिये गये हैं। उदाहरण प्रायः चिरपरिचित, प्रचलित, रुचिर और रोचक तथा भिन्न भिन्न रसों के रक्खे गये हैं। ध्यान रक्खा गया है कि उदाहरण सुरुचि-पूर्ण और काव्याभिरुचि के उद्दीपक ही रहें।

—लेखक

विषय-तालिका

अध्याय— ५

अध्याय— ६

अध्याय— ७

अध्याय १

काव्य क्या है?

मनुष्य में दो भावनाएँ स्वभावतः सदैव प्रधान होकर कार्य करती रहती हैं, क्योंकि मनुष्य में जो आत्मा है वह उस परमात्मा का एक अंश है जो आनन्दस्वरूप, अमर और सौन्दर्य्य-धाम है। पहिली भावना इसलिये यह होती है कि वह इस संसार में अमर होकर रहे और बराबर आनन्द का अनुभव करे। दूसरी मनोवृत्ति है सौन्दर्य के देखने-सुनने उत्पन्न और प्राप्त करने की। मनुष्य स्वभावतः इसी लिये आनन्द का प्रेमी और सौन्दर्य का उपासक है।

यही दोनों भावनायें वास्तव में उन सभी कलाओं और विद्याओं की मूलभूत भावनाएँ हैं, जिनकी खोज मनुष्य आज तक करता आया है। शरीर को अस्थायी देख कर मनुष्य ने अपने नाम को ही स्थायी बनाने का प्रयत्न किया और इस प्रयत्न के कारण शिल्प-कला, मूर्ति-कला, चित्र-कला आदि का विकास हुआ। इन सब कलाओं में सौन्दर्य्य-प्रियता की मनोवृत्ति भी बराबर कार्य करती रही और आनन्द-प्रियता की भावना भी इनमें सन्निहित रही।

इसी के साथ अपने आनन्द के द्वारा अपनी भावी सन्तति को भी वैसे ही आनंद के देने की इच्छा भी उसमें बलवती हुई। इसकी प्रेरणा से

मनुष्य ने अपनी भावनाओं, विचारों और अनुभवों को भाषा के माध्यम से व्यक्त कर अपनी भावी सन्तति के लिये साहित्य के रूप में संचित करने की परिपाटी चला दी क्योंकि आत्माभिव्यंजन के समान जिज्ञासा वृत्ति भी मनुष्य में प्रबल रहती है। इस प्रकार जो विचार-राशि संचित हो गई उसी को साहित्य कहा गया, क्योंकि उसके द्वारा भावी समाज का हित भी होता था और इस साहित्य में आत्म-हित के साथ ही साथ इस प्रकार समाज-हित अथवा विश्व-हित भी सन्निहित रहता था। इसलिये कहना चाहिये कि साहित्य विचारों की वह संचित राशि है जो सब के लिये सदैव सब प्रकार हितकारिणी होती है। हित में ही सत्य-शिव-सौन्दर्य समाहित है।

सुविचारों की उस राशि को, जिससे सौन्दर्य-भावना को सन्तोष और आत्मा को सत्य अलौकिक आनन्द की प्राप्ति हो, काव्य कहा जाता है। इस लिये काव्य में एक प्रकार से सभी प्रमुख मानवीय वृत्तियों की प्रेरणा रहती है और इसीलिये काव्य-कला समस्त कलाओं की अपेक्षा श्रेष्ठ मानी गई है। दूसरी बड़ी विशेषता इस कला में और यह है कि इस कला में मानसिक और काल्पनिक आधार रहता है और किसी समूर्त आधार की इसे आवश्यकता नहीं होती। शब्द-चित्र और भाव-चित्र ही, जो कल्पना-शक्ति के द्वारा चित्रित होते हैं, पूर्ण मानसिक सुख अथवा आत्मानन्द दे सकते हैं।

अब इसलिये काव्य की परिभाषा इस रूप में दी जा सकती है कि काव्य कल्पना-कलित वह अनुभूति-प्रकाशक सुन्दर रचना है जिससे सत्यानंद की प्राप्ति हो सके।

इस काव्य का रचयिता कवि कहा जाता है। इस कवि शब्द से भावार्थ में कवित्व और कविता दो शब्द और बनते हैं। कवित्व से तात्पर्य है काव्य की उस विशेषता से जिसके कारण काव्य में कमनीयता

आती है, साथ ही यह शब्द कवि की प्रतिभा को भी सूचित करता है। कविता से प्रायः तात्पर्य उस छंदबद्ध-रचना से होता है जिससे काव्य-सम्बन्धी विशेषतायें भी प्राप्त होती हों।

इन्द्रिय-सम्पर्क के आधार पर काव्य के दो भेद हैं :— (१) श्रुति-काव्य— जो पढ़ा या सुना जाता है और (२) दृश्य-काव्य— जिसका रङ्गमंच पर अभिनय किया जाकर प्रत्यक्ष अनुभव किया जाता है।

काव्य के विषय अथवा उसकी वस्तु के आधार पर तीन भेद किये गये हैं, और रचना-शैली के कारण दो मुख्य भेद हैं :—

(१) गद्य-काव्य:— जिसके अन्तर्गत आख्यायिका या कहानी और उपन्यास आदि आते हैं।

(२) पद्य-काव्यः— जिसके काव्य-वस्तु के आधार पर प्रबन्ध-काव्य, मुक्तक-काव्य और चम्पू नामक तीन भेद हैं :—

प्रथम भेद है:— प्रबन्ध-काव्य— इसके फिर दो उप भेद होते हैं, प्रथम है :— महा-काव्य जिसमें किसी एक देवोपम सद्गुणोपेत राजा अथवा राज्य-वंश का जीवनाङ्कन किया जाता है ; दूसरा है :— खंड-काव्य जिसमें किसी महापुरुष के जीवन की किसी विशेष घटना का संक्षेप में वर्णन किया जाता है।

दूसरा भेद है:— मुक्तक-काव्य— वह काव्य है जिनमें किसी एक विशेष भावना अथवा भाव और एक भाव भरी छोटी सी घटना एक छन्द में ही रक्खी जाती है। ऐसा मुक्तक छन्द सर्वथा स्वतन्त्र रहता है। उसके समझने के लिये किसी दूसरे छन्द की आवश्यकता नहीं होती।

तीसरा भेद है:— चम्पू उस रचना को चम्पू कहते हैं जिसमें गद्य और पद्य का सुन्दर समन्वय किया जाता है।

अर्थ-शक्ति के आधार पर काव्य की तीन श्रेणियाँ हैं। उत्तम श्रेणी का काव्य वह है जिसमें भाव का चतुरता के साथ सुन्दर संकेत दिया

जाता है और उसके समझने तथा कल्पित करने को पाठक या श्रोता स्वतन्त्र रहते हैं। दूसरा मध्यम श्रेणी का काव्य वह है जिसमें भाव नितांत व्यक्त या स्पष्ट नहीं रहता वरन् चारुता से व्यञ्जित किया जाता है। निकृष्ट अथवा तृतीय श्रेणी का काव्य वह अधम काव्य है जिसमें केवल शाब्दिक-कौतुक ही सा कुतूहल के लिये किया जाता है।

काव्य की उपमा एक शरीरधारी से दी गई है। इसका प्राण अथवा आत्मा रस है और शरीर शब्दात्मक भाषा का है। प्रसाद, माधुर्य्य आदि इसके गुण हैं। अभिधा, लक्षणा आदि इसकी शक्तियाँ हैं और अलङ्कार इसके शरीर को आभूषित करने वाले आभरण हैं।

यह काव्य को स्पष्ट करने का एक रूपकात्मक प्रकार है। इस विचार से अतिरिक्त कुछ अन्य विचार भी हैं। मत-भेद भी इस विषय पर बहुत हैं। काव्यात्मा के रूप में एक विद्वद्वर्ग रीति अथवा रचना शैली को, दूसरा अलंकार को, तीसरा ध्वनि या सांकेतिक भावदायिनी शक्ति को, मानता है।

वस्तुतः काव्य में तीन तत्व रहते हैं:— भाव, भाषा और रचना-रीति जिसके अंतर्गत भाव-प्रकाश-विधि भी आती है। कुछ लोग भाव को, कुछ भाषा को तथा कुछ रीति या शैली को प्राधान्य तथा प्राबल्य देते हैं। सामान्य दृष्टि से तीनों के समीचन समन्वय की काव्य में आवश्यकता है। रस, भावादि इन्हीं के अंतर्गत हैं।

काव्य का यद्यपि सम्बन्ध हृदय या भावना वृत्ति से विशेष है— तथापि उसमें ज्ञान अथवा बोधवृत्ति की भी महत्ता-सत्ता है। साधारण रूप से कह सकते है कि काव्य में हृदय (भावना या भावानुभूति) मन (बोधवृति) बुद्धि विमार्जित कल्पना तथा कला यथेष्ट रूप में कार्य करती है। इस प्रकार काव्य में मनुष्य की सभी प्रमुख मनोवृत्तियों के साथ आत्मा की विशेषतायें सन्निहित रहती हैं, इसी से काव्य कला सर्वकला-प्रधान है।

अध्याय २

रस-परिचय

ऊपर कहा जा चुका है कि काव्य का प्राण रस है। रस— वह है जिसके कारण हृदय द्रवीभूत हो जाता है और एक प्रकार से पिघल कर रसने सा लगता है। रस का विशेष अर्थ आनन्द है, इस आनन्द का सम्बन्ध न तो सुख से है और न दुःख से ही है। इसी लिये अत्यन्त कारुणिक कविता को पढ़ते हुये रोने और आँसुओं के बहाने पर भी उसमें मन लगा रहता है। रस के २ रूप या प्रकार हैं:—प्रथम है अलौकिक और द्वितीय है—लौकिक। लौकिक रस काव्य में प्राण स्वरूप रहता है।

यह रस मुख्य रूप से ६ प्रकार का है, किन्तु यह रस लौकिक है। अलौकिक रस में प्रकारता नहीं। शृङ्गार इन रस-भेदों में से प्रधान है और रस-राज कहा जाता है, क्योंकि यह सब रसों की अपेक्षा अधिक व्यापक है। इस रस का स्थायी भाव रति अथवा प्रीति है।

स्थायी-भाव से तात्पर्य उस भावना से है, जो मन में एक बार उदय होकर बहुत समय तक बराबर स्थिर रहती है। प्रत्येक भावना अपना प्रभाव मन और शरीर पर डालती है। इन्हीं प्रभावों को **अनुभाव** कहते हैं; चूँकि इसका उदय भाव के पश्चात् होता है।

प्रत्येक भाव किसी व्यक्ति के हृदय में उत्पन्न होता है और किसी के

कारण अथवा हेतु होता है। इसलिए प्रत्येक भाव का सम्बन्ध दो कारणों से रहता है। जिस व्यक्ति में भाव का उदय होता है उसे **आश्रय** और जिसके हेतु या कारण वह उदय होता है उसे **आश्रित** कहते हैं। जैसे जानकी को देखकर राम के हृदय में प्रीति का भाव उठा तो राम आश्रय और जानकी आश्रित हैं। इसी के साथ बाह्य-प्रकृति की परिस्थितियाँ भाव को उद्दीप्त करने में सहायक होती हैं। भाव से सम्बन्ध रखने वाले व्यक्तियों को तो **आलम्बन** और प्राकृतिक परिस्थितियों को **उद्दीपन** कहते हैं। यह दोनों विभाव के दो रूप हैं।

कोई एक भावना जब बराबर स्थायी होकर मन में चलती रहती है तब यह नहीं होता कि और कोई दूसरी भावना का उदय ही न हो। वरन् बीच बीच में अन्य भावनाएँ भी हृदय में उदित होती हैं और स्थायी भावना की सहायता-सी करती हुई थोड़े समय में दूर हो जाती है। चूँकि यह भावनाएँ स्थायी भाव में संचरण करती हैं इसलिये इन्हें संचारी या व्यभिचारी-भाव कहते हैं।

ऊपर शृङ्गार रस का कथन किया गया है। इस रस के नायक और नायिका तो आलम्बन विभाव, पुष्प-वाटिका, चन्द्रिका-चर्चित रजनी, शीतल, मंद समीर, कोकिल, मधुप आदि के शब्द उद्दीपन-विभाव, रोमांच, पुलकावली, प्रस्वेद, कंप और अश्रु अनुभाव हैं। साथ ही ३३ प्रकार के संचारी भाव इससे सम्बन्ध रखते हैं। उदासीनता (निर्वेद) किसी कार्य में जी (मन) का न लगाना, आवेग, शंका, ग्लानि, दीनता, मोह, मद, जड़ता, श्रम, आलस्य, विषाद, व्याधि, असूया (डाह), अमर्ष, मति, हर्ष, गर्व, अवहित्थ (छिपाना), लज्जा, विवोध, (जाग्रति), निद्रा, स्वप्न, चपलता, अपस्मार (मृगी) उन्माद, उत्सुकता, वितर्क, स्मृति, त्रास और मृत्यु। इनसे अतिरिक्त और भी ऐसी ही कुछ मानसिक दशायें होती हैं। जब तक ये भावनायें किसी

स्थायी भाव की सहायता करती हैं, जब तक यह सञ्चारी रहती हैं, किन्तु उससे सम्बन्ध न रहने पर तथा स्वतंत्र रूप से चलने पर इनकी भाव-संज्ञा हो जाती है। कभी कभी एक स्थायी-भाव दूसरे स्थायी भाव का सहायक होकर संचारी का रूप ले लेता है, जैसे रति भाव में हास संचारी के रूप में आ जाता है। प्रायः वीर और शृङ्गार में हास, वीर में क्रोध और शान्त में जुगुप्सा या घृणा भी संचारी के रूप में आता है। इसी प्रकार कभी कभी एक संचारी-भाव किसी दूसरे संचारी-भाव का भी सहायक होता है।

अनुभाव का कुछ वर्णन पहिले किया जा चुका है, यहाँ उनके भेद दिये जा रहे हैं :—

अनुभाव मुख्यतया दो प्रकार के हैं, एक का सम्बन्ध आश्रय के शरीर से है और उनपर उसका अधिकार सा रहता है, आश्रय उन्हें इच्छानुसार प्रगट कर सकता है और गुप्त सा भी रखता है। इसलिए इनको शारीरिक और **कायिक-अनुभाव** कहते हैं। जैसे क्रोध के आने पर इच्छानुसार नायक अथवा आश्रय के शरीर में कम्प, भृकुटियों में वक्रता मुख पर विकृति, नासा-पुटों में प्रस्फुटन आदि को उत्पन्न कर सकता है और दबा सकता है। ऐसे शारीरिक अनुभावों की कृत्रिम नकल भी की जा सकती है और उसके द्वारा स्थायी-भाव के उत्पन्न हो जाने का भी भ्रम पैदा किया जा सकता है, जैसा प्रायः नाटक के अभिनय में होता है।

कुछ अनुभाव ऐसे हैं जो शरीर की स्वाभाविक क्रिया और प्रतिक्रिया के रूप में होते हैं। ये बलात् प्रगट होते हैं और इनपर आश्रय का अधिकार नहीं रहता। इनका सम्बन्ध सीधे सीधे स्वाभाविक मनोवृत्ति से रहता है, जिसे सत्व कहते हैं, इसलिए इन्हें **सात्विक-अनुभाव** कहा जाता है। चूँकि कायिक-अनुभावों के समान यह बल से प्रगट नहीं किये जाते, इसलिए इन्हें **अयत्नज** भी कहते हैं। ये आठ प्रकार के हैं।

(१) **रोमाञ्च या पुलकावली:**— हर्ष, भयादि के कारण शरीर का प्रफुल्लित और रोंगटों का खड़ा होना।

(२) **प्रस्वेद:**— भावना-विशेष से शरीर में पसीना आना।

(३) **स्वर-भंग:**—भावावेश से कंठ-स्वर का विकृत होना अथवा स्वर का अवरोध हो जाना।

(४) **कम्प:**— शरीर का भावातिरेक से थरथराना या काँपना।

(५) **वैवर्ण्य या विवर्णता:**— मुखादि के वर्ण का फीका पड़ना।

(६) **अश्रु:**— भावावेग से नेत्रों का सजल होकर आँसू गिराना।

(७) **स्तम्भ:**— अथवा जड़ता भाव की अधिकता से अङ्ग-प्रत्यङ्ग की गति का रुक जाना।

(८) **प्रलय:**— भाव के अति वेग से संज्ञा-शून्य होना।

नोट:— ध्यान रखना चाहिये कि उक्त शारीरिक दशाएँ विशेष विशेष रोगों और पित्त आदि की विकृतावस्था के कारण भी उत्पन्न होते हैं, उस अवस्था में इन्हें अनुभाव नहीं कहते।

अध्याय ३

रसों का संक्षिप्त विवेचन

शृङ्गारः— रति की इच्छा के अङ्कुर को शृङ्ग कहते हैं, इसलिए इसके सूचक हेतु को **शृंगार** कहते हैं। लौकिक और अलौकिक दो रूपों में यह रहता है। इसका स्थायी-भाव रति अथवा प्रीति है; उसका समुन्नत रूप प्रेम कहा जाता है। यह प्रीति विविध प्रकार की है, किन्तु शृङ्गार का विशेष रूप से सम्बन्ध दाम्पत्य-रति से है। नायक और नायिका इसके आलम्बन हैं। कभी तो नायक आश्रय-रूप में रहता है, और कभी नायिका आश्रय-रूप में रहती है और इसी प्रकार वे एक, दूसरे के आलम्बन भी हो जाते हैं। उद्दीपन विभाव इसके विविध हैं। वेश-भूषा, चेष्टाएँ, सङ्केत, मुस्कान आदि तो व्यक्ति-सम्बन्धी हैं। चन्द्रिका, वसन्त, सुसमीर, वाटिका आदि प्रकृति-सम्बन्धी हैं।

नोटः— उक्त उद्दीपन नायक आदि की अवस्थानुसार सुखद या दुःखद हुआ करते हैं।

अनुभावः— शृङ्गार रस के दृष्टि-विशेष, भृकुटि-विलास, कटाक्ष, प्रस्वेद, रोमांच और अश्रु आदि अनुभाव हैं।

सञ्चारी भावः— उक्त सभी ३३ संचारी-भाव इसमें आ सकते हैं, किन्तु अन्य रसों में उन सबों का सञ्चार नहीं होता, इसी लिए शृङ्गार

रस को पूर्ण रस भी मानते हैं। शृङ्गार के मुख्य दो प्रकार हैं— **संयोग अथवा सम्भोग**— जिसमें नायक और नायिका के पारस्परिक मिलन, दर्शन-स्पर्शन और प्रेमालापादि का वर्णन होता है। **विप्रलम्भ अथवा वियोग**— जिसमें उनके पारस्परिक पार्थक्य से उत्पन्न दुःखादि की दशाओं का कथन किया जाता है।

नायक और नायिका में प्रीति की प्रारम्भिक दशा को **पूर्वानुराग** कहते हैं। गुण-श्रवण, स्वप्न, प्रत्यक्ष-दर्शन और चित्र-दर्शन से इसकी उद्दीप्ति अथवा जागृति होती है। प्रीति या प्रेम कभी तो नायक की ओर से और कभी नायिका की ओर से प्रारम्भ होता है :—

नायक की ओर से, यथाः—

संयोगः—कंकन, किंकिन, नुपुर-धुनि सुनि।
कहत लषण सन राम हृदय गुनि।
मानहुँ मदन दुन्दुभी दीन्हीं।
मनसा विस्व-विजय कर कीन्हीं।
अस कहि फिरि चितये तेहि ओरा।
सिय-मुख ससि भये नयन चकोरा।
भये बिलोचन चारु अचंचल।
मनहुँ सकुचि निमि तजेउ दृगंचल।
करत बतकही अनुज सन, मन सिय-रूप-लुभान।
मुख सरोज, मकरन्द छवि, करत मधुप इव पान॥

नायिका की ओर से, यथाः—

स्याम, गौर किमि कहौं बखानी,
गिरा अनयन, नयन बिन बानी।
बरनत छबि जहँ तहँ सब लोगू,
अवसि देखिये देखन-जोगू॥

चली अग्र करि प्रिय सखि सोई,
प्रीति पुरातन, लखै न कोई।

लता-भवन ते प्रगट भे, तेहि अवसर दोउ भाय।
निकसे जनु जुग बिमल बिधु, जलद-पटल बिलगाय॥

देखि रूप लोचन ललचाने, हरषे जनु निज निधि पहिचाने।
थके नयन रघुपति छवि देखी, पलकनहू परिहरी निमेषी॥
अधिक सनेह देह भइ भोरी, सरद ससिहिं जिमि चितव चकोरी।
लोचन-मग रामहिं उर आनी, दीन्हें पलक-कपाट सयानी॥

प्रथम उदाहरण में राम आश्रय हैं, कंकण, किंकिणी आदि की ध्वनि उद्दीपन है, जानकी आलम्बन हैं। नेत्रों का अचंचल होना, अनुभाव और लुभाना हर्ष संचारी के रूप में है।

दूसरे उदाहरण में जानकी आश्रय, राम आलम्बन हैं, पूर्वानुराग का प्रारम्भ यहाँ गुण-श्रवण से है, लोचन का ललचाना उत्सुकता-संचारी है, पुरानी प्रीति का स्मरण स्मृति-संचारी है। लता-भवन उद्दीपन-विभाव है। पलकों का न लगना जड़ता या स्तम्भ है, देह का शिथिल होना स्तम्भ है। हरषे में हर्ष संचारी है, आदि।

वियोग-शृङ्गारः—

हा गुन खानि-सुजान कितै गई तो बिन है मम जीवन नाहिन।
जो जड़ जीव रहैं तन मैं तौ बसौं बन औधहिं जाहुँ कदापि न॥
औधहिं जाहु तौ जाहुँ भले, गृह तो बिन जाइ लखौं किन आँखिन।
रोवत राम कहैं बिलखाइ; न जीवन है सिय प्रानप्रिया-बिन॥

राम यहाँ आश्रय, सीता के प्रति उनकी प्रीति स्थायी-भाव है, जो जानकी के वियोग में प्रगट होता है। जानकी आलम्बन, बिलखना, रोदन अनुभाव, चिंता, शङ्का, विषाद आदि संचारी-भाव हैं।

इसी प्रकार नायिका की ओर से भी वियोग का बहुत विशद वर्णन हिन्दी-काव्य में मिलता है। जैसे :—

हा रघुबीर ! देव रघुराया,
केहि अपराध बिसारेहु दाया ॥

× × ×

जेहि विधि कपट कुरङ्ग सँग, धाइ गये श्रीराम।
सोइ छबि सीता राखि उर, जपति रहति नित नाम ॥

× × ×

इसमें जानकी आलम्बन, राम के प्रति उनकी प्रीति स्थायी भाव, विषाद सञ्चारी-भाव, नाम-स्मरण, स्मृति, विलाप अनुभाव आदि हैं।

—❀—

हास्य-रसः— किसी व्यक्ति या वस्तु की असाधारण विकृत आकृति, विचित्र वेश-भूषा, आचार-व्यवहार आदि को देखकर मन में जो विनोद का भाव उठता है उसे हास्य कहते हैं। यही हास्य विभाव, अनुभाव और संचारी से पुष्ट होकर रसत्व को प्राप्त होता है। इसका स्थायी भाव हास है, आलम्बन इसका विकृत आकृति वाला व्यक्ति या पदार्थ है। इसके उद्दीपन विभाव में विचित्र बातें और चेष्टायें आदि आती हैं। इसी के साथ हास्य का समाज विचित्र वेश-भूषा आदि इसके बाहरी उद्दीपन हैं। इसके आश्रय में हँसी, मुसकान, सज़ल-नेत्र अनुभाव के रूप में रहते हैं। हर्ष, स्मृति, अवहित्थ्य आदि इसके संचारी-भाव होते हैं। बहुधा इसके आलम्बन का वर्णन ही इसके लिए पर्य्याप्त होता है। यथा :—

तात कही तुम बात सही, इनके सम दूसर रूप न आजू।
सुन्दर रूप भयानक आनन, कानन लौं बिकटानन साजू॥

मर्कट-मूरति को लखते उर में हँसते सब भूप-समाजू।
श्री द्विजदत्त रमा-पति धन्य दियौ यह रूप, भलो ऋषिराजू।

× × ×

यहाँ शिव-गण जो व्यञ्जित हैं, आश्रय हैं, ऋषि-राज नारद आलम्बन, मर्कट-मूर्ति उद्दीपन, भूप-समाज का हँसना ही हर्ष सञ्चारी है। इस प्रकार इसमें हास्य रस है। इसी प्रकार :—

डट्टा ऐसी नाक है, कुप्पा ऐसे गाल,
विमति बताओ वेगि यह, को सुन्दर भूपाल॥

इसमें भी अलङ्कार परिपुष्ट हास्य-रस है।

—❀—

करुण-रसः— प्रिय व्यक्ति अथवा वस्तु के नाश और अनिष्ट की प्राप्ति और इष्ट की प्राप्ति की आशा के अभाव से हृदय में दुःख और क्षोभ का आया हुआ भाव ही शोक कहलाता है, यही परिपक्व होकर रसत्व प्राप्त करता है और करुण रस कहलाता है।

वियोग-शृङ्गार में आश्रय की दशा करुण के आश्रय की सी रहती है, किन्तु उसमें आलम्बन की पुनर्प्राप्ति की आशा बनी रहती है, करुण में नहीं रहती।

करुण का स्थायी-भाव शोक है, आलम्बन विनष्ट-प्रिय-वस्तु अथवा व्यक्ति है। उद्दीपन में प्रिय वस्तु या व्यक्ति से सम्बन्ध रखने वाली वस्तुएँ और कथाएँ होती हैं। अनुभाव में रुदन, उच्छ्वास, दैव अथवा भाग्य की निन्दा, प्रलाप और स्तम्भ आदि हैं। उन्माद, चिन्ता, मोह, निर्वेद, स्मृति, ग्लानि, विषाद और जड़तादि सञ्चारी हैं।

कपीन्द्र बालि की मृत्यु पर तारा विलाप करती हुई कहती है:—

नाना विधि विलाप कर तारा,
छूटे केस न देह-सँभारा।

इसी प्रकार श्री दशरथ जी की मृत्यु परः—

सोक विकल सब रोवहिं रानी ,
रूप - सील - बल - तेज बखानी ।
करहिं विलाप अनेक प्रकारा ।
× × ×
अथयउ आज भानु-कुल-भानू ,
धरम-अवधि, गुन-रूप-निधानू ।

यहाँ रानियाँ आश्रय, दशरथ आलम्बन; दशरथ की जीवन-कथा—(रूप-शील, बल, तेज बखानी) उद्दीपन, रुदन, प्रलाप आदि अनुभाव, स्मृति, विषाद, निर्वेद सञ्चारी भाव हैं। शोक स्थायी भाव है। इस प्रकार करुण रस है। इसी प्रकार भरत ने कहा है :—

तात ! तात ! हा तात ! पुकारी ,
परे भूमि-तल व्याकुल भारी ।
चलत न देखन पायहुँ तोहीं ,
तात न रामहिं सौंपेहु मोहीं ।

—❀—

रौद्र-रसः— किसी विपक्षी, असभ्य, अहितकारी-शत्रु की धृष्ट चेष्टाओं और क्रियाओं से निजापमान अथवा अहित आदि के कारण हृदय में रोष होता है, इसे क्रोध कहते हैं। यही स्थायी-भाव है और परिपक्व होकर रौद्र-रस होता है। इसका आलम्बन विभाव विपक्षी-रिपु अभद्र-द्रोही और छली-दुराचारी व्यक्ति है। उद्दीपन में उसके दर्प-वाक्य, नीचता और अभद्रता अथवा अक्षम्य अपराध होते हैं। अनुभावों में चढ़े हुए रक्त-नेत्र, तानी हुई भौहें, क्रूर-दृष्टि, हाथों का चलना, कठोर-

कर्कश शब्द, स्व-शक्ति-कथन, शस्त्र-प्रहार, रोमाञ्चादि होते हैं। उग्रता, क्रूरता, मद, गर्व और अमर्ष आदि इसके सञ्चारी-भाव हैं। जैसे:—

बहै न बाहु, दहै रिसि छाती,
भा कुठार कुंठित नृप-घाती।
न तु यहि काटि कुठार कठोरे,
गुरुहिं उऋन होतेउँ श्रम थोरे।
भुज-बल भूमि भूप-बिनु कीन्हीं,
विपुल बार महि-देवन दीन्हीं।
सहस - बाहु - भुज छेदन - हारा,
परसु बिलोक महीप - कुमारा।
गर्भन के अर्भक-दलन, परसु मोर अति घोर।

यहाँ श्री परशुराम आश्रय, गुरु-धनु भंग उद्दीपन, कटु-वचन, परशु-संचालन, अनुभाव, शिव-धनु तोड़ने वाला आलम्बन, गर्व, जड़ता सञ्चारी भाव हैं। इस प्रकार पूर्ण रौद्र-रस है।

—❀—

वीर-रसः— रिपूत्कर्ष, धर्म-क्षय और दैन्य-नाश के कारण कठिन कार्य के करने की तीव्र उत्सुकता का भाव उत्साह कहलाता है, यही इसका स्थायीभाव है। वीर चार प्रकार के माने गये हैं:— युद्ध-वीर, दान-वीर, दया-वीर और धर्म-वीर। युद्ध-वीर में शत्रु-नाश, दान-वीर में त्याग, धर्म-वीर में धर्म-स्थापन और अधर्म-नाश और दया-वीर में दयनीय के दुःख का नाश उत्साह उत्पन्न करता है। युद्ध-वीर में शत्रु आलम्बन, उसकी ललकार और चेष्टायें तथा मारू बाजे, शत्रु का उत्कर्ष, सेनादि उद्दीपन, बाहु-संचालन, स्वबल-वर्णन इत्यादि अनुभाव हैं। गर्व, औत्सुक्य, वितर्क आदि सञ्चारी-भाव होते हैं। जैसे: —

रघुबंसिन महँ जहँ कोउ होई ,
तेहि समाज अस कहै न कोई ।
कही जनक जस अनुचित बानी ,
विद्यमान रघुकुल-मनि जानी ।
जो तुम्हार अनुसासन पाऊँ ,
कन्दुक इव ब्रह्मांड उठाऊँ ।
काँचे घट जिमि डारौं फोरी ,
सकौं मेरु-मूलक इव तोरी ॥ इत्यादि ।

यहाँ लक्ष्मण आश्रय, उत्साह स्थायी, जनक-वचन उद्दीपन, कुटिल-भौंहें (रद-पुट प्रस्फुटन) अनुभाव, गर्व सञ्चारी भाव है । इस प्रकार वीर-रस है ।

—❀—

दान-वीरः— दान-वीरता में याचक आलम्बन, उसकी पात्रता आश्रय का कर्तव्य-ज्ञान, कीर्तीच्छा आदि उद्दीपन हैं । प्रसन्नता से यथा-शक्ति भर मुक्त-हस्त से देना, उदारता अनुभाव है । हर्ष, स्मरण आदि सञ्चारी भाव हैं ।

भामिनि देहुँ द्विजै सब लोक ,
तजौ हठ मोरे यहै मन भाई ।

इसमें रुक्मिणी से कृष्ण कहते हैं कि इस ब्राह्मण को सब लोक देने की मेरी इच्छा है। कृष्ण आश्रय हैं, सुदामा आलम्बन, दयोत्पादक उनकी दरिद्रता उद्दीपन, मन भाई से हर्ष-सञ्चारी, भाव और प्रसन्नता अनुभाव है ।

—❀—

दया-वीरः— दया-वीरता में दीन, दुखी व्यक्ति आलम्बन, दुखी का रुदन, उच्छ्वास, दुःख-कथन आदि उद्दीपन, मधुर-सान्त्वना-मूलक शब्द, दुःख-विमोचक कार्य अनुभाव, और उत्कंठा, उत्साह सञ्चारी भाव है ।

देखि बिहाल बिवाइन सौं
अरु कंटक-जाल गड़े पग जोये !
हाय ! सखा ! दुख पाये महा,
तुम आये इतै न किते दिन खोये ।।
देखि सुदामा की दीन-दसा,
करुना करिकै करुना निधि रोये ।
पानी परात कौ हाथ छुयो नहिं
नैनन के जल से पग धोये ।।

यहाँ श्रीकृष्णजी आश्रय, सुदामा, आलम्बन, उसकी दीन-दुखी-दशा उद्दीपन, कृष्ण-रुदन और वचन अनुभाव, दुःख, विषाद, उत्कंठा सञ्चारी-भाव हैं। अतएव पूर्ण वीर रस है।

धर्म-वीर— इसमें आलम्बन धर्मात्मा व्यक्ति, धार्मिक ग्रन्थ-पठन अथवा श्रवण, धर्मार्थ साधुसंग, धर्मकार्य-फल उद्दीपन, धार्मिक आचरण और कार्य अनुभाव। धैर्य-हर्षादि सञ्चारी भाव हैं—

जनि डरपहु सुर, सिद्ध, सुरेसा,
तुमहिं लागि धरिहौं नर - बेसा।
अंसन सहित मनुज-अवतारा,
लैहौं दिनकर-वंस उदारा।
हरिहौं सकल भूमि गरुआई,
निरभय होहु देव-समुदाई।

इसमें हरि-आश्रय, उनके सान्त्वनामूलक वचन अनुभाव, देव-विनय उद्दीपन, उल्लास स्थायी, दृढ़ता सञ्चारी, धर्म-रक्षार्थ विचार अनुभाव हैं।

—❀—

भयानक-रसः—भयद वस्तु-वर्णन, सभीत व्यक्ति की चेष्टा-कथन से भय का भाव आ उठता है, भय इसका स्थायी-भाव है। आलम्बन इसके भयकारी वस्तु, शत्रु, हिंसक जन्तु आदि हैं। भयानक दृश्य, पशु, उनके कार्य अथवा उनका उल्लेख आदि उद्दीपन हैं। कम्प, स्वेद, स्वर-भंग, मूर्च्छा, आदि अनुभाव, भ्रम, चिन्ता, शङ्का, जड़ता, त्रास आदि सञ्चारी भाव हैं।

कीन्हें कम्बल बसन, तथा लीन्हें लाठी कर,
सत्यव्रती हरिचन्द, हुते टहरत मरघट पर।

× × ×

कहुँ सुलगति कोउ चिता, कहूँ कोउ जाति बुझाई,
एक लगाई जाति एक की राख बुझाई।
विविध रंग की उठति ज्वाल दुर्गन्धनि महकति,
कहुँ चरबी सौं चटचटाति कहुँ दह दह दहकति।

× × ×

हरहरात इक दिसि पीपर कौ पेड़ पुरातन,
लटकत जामैं घंट घने माटी के बासन।
बरषा-ऋतु के काज और हूँ लगत भयानक,
सरिता बहति सवेग करारे गिरत अचानक।
लखत भूप यह साज मनहिं मन करत गुनावन,
पर्यौ हाय! आजन्म करम यह करन अपावन।

इसमें भयप्रद श्मशान का वर्णन उद्दीपन है, हरिश्चन्द्र आश्रय, सरिता आदि आलम्बन, त्रास आदि गुत-सञ्चारी हैं।

—❀—

वीभत्स-रसः— घृणा योग्य वस्तुओं के देखने-सुनने से हृदय में एक प्रकार की ग्लानि का भाव आता है, उसे जुगुप्सा कहते हैं। इसमें प्रायः आलम्बन का ही उल्लेख होता है। नाक-भौं सिकोड़ना, थूकना और ग्लानि आदि सञ्चारी भावों का उल्लेख प्रायः नहीं होता।

> कहुँ शृगाल कोउ मृतक-अंग पर घात लगावत,
> कहुँ कोउ सव पर बैठि गिद्ध चट चोंट चलावत।
> जहँ तहँ मज्जा माँस रुधिर लखि परत बगारे,
> जित-तित छिटके हाड़ सेत कहुँ कहुँ रतनारे।

यहाँ श्मशान आलम्बन, मज्जा, मांस आदि उद्दीपन, हरिश्चन्द्र आश्रय, उनके वाक्य में विषाद संचारी, और घृणा स्थायी-भाव है।

—❀—

अद्भुत-रसः— किसी विचित्र और अभूतपूर्व असाधारण वस्तु को देखकर हृदय में एक प्रकार के अचरज का भाव होता है, इसे आश्चर्य कहते हैं, यही इसका स्थायी-भाव है। इसमें भी प्रायः आलम्बन का ही वर्णन रहता है, अन्य अनुभावादि नहीं रहते। अलौकिक अथवा असम्भव असाधारण वस्तु और दृश्य आदि इसके आलम्बन है। ऐसी वस्तुओं का देखना या सुनना उद्दीपन, रोमांच, विस्फारित-नेत्र, स्तम्भ, आदि अनुभाव, तथा वितर्क, भ्रान्ति आदि संचारी-भाव हैं।

> दिखरावा मातुहिं निज, अद्भुत रूप अखंड।
> कोटि कोटि प्रति राजहीं, कोटि कोटि ब्रह्मंड।

> गइ जननी सिसु पहँ भय-भीता,
> देखा बाल तहाँ पुनि सूता।

बहुरि आइ देखा सुत सोई,
हृदय कंप मन धीर न होई।
इहाँ-उहाँ दुइ बालक देखा,
मति भ्रम मोरि कि आन बिसेखा।
तन पुलकित मुख बचन न आवा,
नैन मूँदि चरनन सिर नावा।

यहाँ राम आलम्बन, उनके दो रूप और विराट शरीर उद्दीपन, पुलकावली, मति-भ्रम, कंप, अनुभाव, जड़ता, भ्रान्ति आदि संचारी भाव हैं।

—❀—

शान्त-रसः— संसार और शरीर की नश्वरता से चित्त में एक विशेष प्रकार की उदासीनता उत्पन्न होती है और भौतिक वस्तुओं से विराग होता है। इसीको निर्वेद कहते हैं। आलम्बन आदि के द्वारा यह पुष्ट होकर रस हो जाता है। शान्त-रस-सम्बन्धी विराग की भावना में ईश्वर के प्रति अनुराग की भी भावना रहती है। इसका स्थायी-भाव यही निर्वेद अथवा अनुरक्ति में विरक्ति का भाव है। आलम्बन इसका ईश्वर अथवा मोक्ष, आत्मानन्द, परमार्थ आदि होते हैं। साधु-समागम, तीर्थ, आर्योपदेश, दर्शन शास्त्रादि का अध्ययन इसके उद्दीपन हैं। तपोवन, ऋषि-आश्रय अथवा ऐसे ही अन्य स्थानादि उद्दीपन हैं। पुलकावली, रोमाञ्च और अश्रु आदि अनुभाव हैं। हर्ष, बोध-मति और धृति संचारी-भाव हैं। जैसेः—

जा दिन मन-पंछी उड़ि जैहै।
ता दिन तेरे तन तरुवर के सबै पात झरि जैहैं।

या देही को गरब न कीजै, स्वान, काक, गिध खैहैं।
अजहूँ चेत करै मन-मूरख, साधु-संग कछु पैहै।
सूरदास भगवंत-भजन बिनु, बादि जनम यह जैहै।

इसमें शरीर की असारता से निर्वेद स्थायी है, साधु-समागम उद्दीपन, उपदेश-मूलक पंक्तियाँ भी उद्दीपन, विवोध और निर्वेद संचारी हैं।

इन ६ रसों से अतिरिक्त वात्सल्य और भक्ति को भी कुछ लोगों ने रस माना है और कुछ लोगों ने इन्हें शृङ्गार के ही अन्तर्गत रखते हुये उसी के विशेष रूप कहा है, क्योंकि इनमें भी प्रीति का भाव बराबर रहता है। इसीलिये शृङ्गार के समान संयोगात्मक और वियोगात्मक दो और भी रूप होते हैं। जिस समय इन दोनों का सम्बन्ध भगवत् विषयक-प्रीति अथवा गुरु-जनों या महाजनों आदि की प्रीति से होता है, उस समय इन्हें कुछ लोग केवल भाव रूप में मानते हैं।

—❀—

वात्सल्य-रसः— इसकी स्थायी-भाव सुत-स्नेह अथवा पुत्र-प्रीति है और आलम्बन शिशु अथवा बालक है। उद्दीपन-विभाव में तोतली बोली, ठुमुककर चलना, मचलना इत्यादि तथा बाल-चपलता, बाल-कौतुक और बाल-बुद्धि-विनोद और अनुभाव में हँसना, मुसकाना पुलकावली, चुमकारना, अङ्क में लेना इत्यादि तथा पिता मातादि आश्रय हैं। वात्सल्य करुणा के साथ भी चलता है, हर्ष, मोह, औत्सुक्य, आदि आवेश इसके संचारी हैं। जैसेः—

कौसिल्या जब बोलनि जाई।
ठुमुकि ठुमुकि प्रभु चलहिं पराई।

×

भोजन करत बोलावत राजा,
नहिं आवत तजि बाल-समाजा।
धूसर-धूरि भरे तन आये,
भूपति बिहँसि गोद बैठाये॥

×

लै उछंग कबहुँक हलरावै,
कबहुँ पालने घालि झुलावै ।

×

भोजन करत चपल चित,इत उत औसर पाइ।
भाजि चले किलकत सुमुख, दधि ओदन लपटाइ ॥

×

सुन्दर स्रवन सुचारु कपोला,
अति प्रिय मधुर तोतरे बोला।
चिक्कन कच कुंचित गभुआरे,
बहु प्रकार रचि मातु सँवारे।

×

जसुमति हरि पालने झुलावै ।
मोरे लाल को आव निंदरिया काहे न लाल सुवावै ।

यहाँ वात्सल्य-भाव से भगवत्-प्रीति-सम्बन्धी भक्ति भाव का भी कथन है। वात्सल्य के साथ प्रभु-स्मरण करते हुए भक्ति भाव चलता है यथा :—

कर-पंकज सौं पद-पंकज लै,
मुख-पंकज मैं धरि पान करै।

वट - पादप पत्र पै पौढ़े भये,
हरि को, मन !, काहे न ध्यान करै।

प्रथम उदाहरण में बालक राम आलम्बन, उनके तोतले बोल, गभुवारे केश आदि उद्दीपन, भूपति का विहँसना अनुभाव, औत्सुक्य-संचारी भाव है। इस रस में दो प्रकार हो जाते हैं:—प्रथम संयोग तथा दूसरा वियोग। रति अथवा प्रीति का स्थायी भाय भी रहता अतः इसे शृङ्गार का एक विशेष रूप भी माना गया है।

वियोग-वात्सल्यः—

प्रिय सुत वह मेरा, प्राण-प्यारा कहाँ है,
दुख जल-निधि डूबी, का सहारा कहाँ है।
लख मुख जिसका मैं, आज लौं जी सकी हूँ,
वह खनि सुषमा का, नैन तारा कहाँ है।

इसे करुण रस के साथ भी रखा जा सकता है।

करुण-पुष्ट वात्सल्यः— रोहिताश्व की मृत्यु पर शैव्या का विलाप।

अजहुँ साँझ लौं रहे तात तुम सुख सौं खेलत,
हाय ! परे मुरझाइ भूमि पैं कर-मुख मेलत।
सके न कुछ कहि और इतोई उत्तर दीन्हो।
फूल लेत गुरु हेत साँप हमकौ डसि लीन्हों।

× × ×

हाय ! हाय ! हे पुत्र ! कहा खेल्यो अरु खायो।
राज-सुवन ह्वै जनम इतो दुख माँहि बितायो।

× × ×

रस सम्बन्धः— रस परस्पर मित्र, शत्रु और उदासीन भी होते हैं। जैसे— शृंगार का मित्र हास, रौद्र का मित्र भयानक और वीर,

शान्त का उदासीन, शृंगार का शत्रु वीभत्स, करुण का शत्रु हास्य है।

कुछ रस एक ही आलम्बन में न होने से विरुद्ध होते हैं और कुछ एक ही आश्रय में होने से और कुछ बिना व्यवधान के एक दूसरे से पीछे आने में। जैसे एक आलम्बन में वीभत्स, रौद्र और हास्य के साथ संयोग शृङ्गार और भयानक, करुण और वीर के साथ वियोग शृंगार का विरोध है। वीर और भयानक को एक ही आश्रय में रखना उचित नहीं; क्योंकि उत्साह और भय साथ साथ नहीं चलते। इसी प्रकार शान्त और शृङ्गार पूर्वापर होने से विरोधी होते हैं, क्योंकि अनुरक्ति और विरक्ति साथ साथ नहीं चलती। वीर और अद्भुत का रौद्र के साथ विरोध नहीं है। इसी प्रकार शृंगार का अद्भुत के साथ और भयानक का वीभत्स के साथ भी विरोध नहीं है। शृंगार के विरोधी रस प्रायः रौद्र, वीर, वीभत्स, भयानक और करुण हैं। हास्य के विरोधी करुण और भयानक हैं। करुण का विरोध शृंगार और हास्य से है। रौद्र का विरोध भयानक, शृंगार और हास्य से है, वीर का विरोध भयानक और शान्त से है। भयानक का हास्य, शान्त, रौद्र, शृंगार और वीर से विरोध है। वीभत्स और शृंगार परस्पर-विरोधी हैं। इसी प्रकार शान्त के विरोधी भयानक, रौद्र, हास्य वीर और शृंगार हैं।

नोटः—यह केवल साधारण नियम हैं, कवि अपनी प्रतिभा के द्वारा इनका सफल उल्लङ्घन भी कर लेते हैं।

अध्याय ४

अलंकार-निर्णय

अलङ्कार शब्द का अर्थ है पर्य्याप्त रूप से सुसज्जित और सुशोभित करने वाला। काव्य को सुशोभित करने वाले उन विधानों को अलङ्कार कहते हैं जिनके द्वारा काव्य में आकर्षक चमत्कार आता है। काव्यशोभा और श्री के बढ़ाने में अलङ्कार ही समर्थ हैं। केवल भाषा-सौन्दर्य-विधान ही अलङ्कार नहीं, वरन् भावोत्कर्ष-कारक और रस भावोदीप्तिकारक विधान भी अलंकार हैं। इसलिये कहना चाहिये कि काव्य की शोभा को बढ़ाते हुये रस-भावादि के उत्कर्षक चातुर्य्य-चमत्कार-पूर्ण वे विधान अलंकार हैं जो शब्द और अर्थ में समाकर्षक सौन्दर्य लाते हैं। जैसे शरीर की शोभा आभूषणों से बढ़ती है वैसे ही अलंकारों से भी भाषारूपी काव्य-शरीर का सौन्दर्य बढ़ता है। आभूषणों से जैसे शरीर-शोभा-वृद्धि के साथ मन भी प्रसन्न होता है और उसमें कुछ गौरव का भाव आता है, उसी प्रकार अलंकारों से भी काव्य के मनरूपी भाव को विशेषता मिलती है। इसलिए अलंकार काव्य में आवश्यक क्या अनिवार्य ठहरते हैं। यह ठीक है कि काव्य अलंकारों के बिना भी सुन्दर और सरस हो सकता

है, किन्तु सौन्दर्य भी काव्य का प्राण है, इसलिये अलंकार काव्य में आवश्यक ही नहीं वरन् अनिवार्य है ।

अच्छे-से-अच्छा भाव साधारण भाषा और साधारण शैली के कारण बहुधा प्रभाव-शून्य रहता है । एक साधारण भाव भी सुन्दर शब्दों और अच्छी शैली के कारण प्रभाव-पूर्ण हो जाता है, इसीलिये अलंकारों को, जो शब्दावली और शैली को चारु चमत्कृत करते हैं, काव्य में प्रधान माना गया है ।

काव्य के तीन ही अंग हो सकते हैं, अर्थात् भाषा, भाव और शैली। यह स्मरणीय है कि इन तीनों में से भाषा प्रधान है, क्योंकि भाव भाषा के बिना प्रकट हो नहीं सकता, उसकी सत्ता और महत्ता इसी पर निर्भर है । भाषा के दो विभाग हैं :— **शब्द और अर्थ**, इसलिये सौन्दर्य-चमत्कार इन्हीं दोनों से सम्बन्ध रखता है । जब शाब्दिक सौन्दर्य प्रधान होता है तब उस सौन्दर्य-विधान को **शब्दालंकार** और जब अर्थ-सम्बन्धी सौन्दर्य-चमत्कार प्रधान रहता है तब उस सौन्दर्य-विधान को **अर्थालंकार** कहते हैं । जब कभी अर्थात्मक और शब्दात्मक दोनों प्रकार का सौन्दर्य-चमत्कार साथ ही आता है तब उसे **उभयालंकार** कहते हैं। भाव-प्रकाशन के चमत्कृत प्रकार बहुत से हो सकते हैं, इसीलिये अलङ्कारों की भी संख्या अधिक हो सकती है । इस समय तक अलंकार-ग्रन्थों में १२० से कुछ अधिक अलंकार मिलते हैं ।

यह कथन समीचीन नहीं कि अलंकार काव्य के कृत्रिम विधान हैं। वस्तुतः यह स्वाभाविक है और बिना जाने हुये भी इसका प्रयोग प्रायः सर्वत्र होता है । स्वभावतः किसी वस्तु को समझाने के लिये उपमा का प्रयोग पढ़े और वे-पढ़े लोग भी करते हैं ।

तात्पर्य यह है कि अलंकारों का प्रयोग भाषा के साथ सर्वथा व्यापक है । एक दृष्टि से अलंकार बात कहने का विचित्र और रमणीय ढंग है।

शब्दालंकार

कहा जा चुका है कि अलंकारों के तीन भेद हैं :— सबसे प्रथम शब्दालङ्कार है। शब्दालङ्कार से भाषा की ऊपरी सजावट ऐसी हो जाती है कि उसकी ओर हृदय बलात् आकृष्ट हो जाता है और फिर उल्लसित हो उसके भाव की ओर चलता है।

स्वभावतः मनुष्य अनुकरणप्रिय है, साथ ही उसमें आवृत्ति प्रियता और कौतुक-प्रियता की वृत्तियाँ भी प्रधान हो कार्य करती हैं। इन्हीं के आधार पर शब्दालङ्कारों का विकास हुआ है।

शब्दालङ्कारों का मूल आधार आवृत्ति है। वह तीन प्रकार की है:— १—वर्णावृत्तिः— जिससे सम्बन्ध रखते हैं अनुप्रास और वर्ण-कौतुक (चित्र-काव्य-सम्बन्धी)। २— वर्णवृत्ति:— इसके दो भेद हैं, प्रथम है छेकानुप्रास:— जिसमें आदि अथवा अन्त के वर्णों की आवृत्ति एक बार होती है। जैसे:—

जेहि सुमिरत सिधि होय, गन-नायक करि-वर-वदन।
करहु अनुग्रह सोइ, बुद्धि-रासि सुभगुन - सदन॥

× × ×

इसमें सुमिरत और सिधि में प्रथम वर्ण "स" की आवृत्ति है। इसलिये यह छेकानुप्रास हुआ। इसी प्रकारः—

गागर में सागर भर्‌यो, सुकवि बिहारी लाल।

× × ×

इसमें गागर और सागर में अंतिम 'ग' और 'र' वर्णों की आवृत्ति एक बार है इसलिये छेकानुप्रास है।

—❀—

दूसरा है— वृत्यनुप्रासः— इसका सम्बन्ध है वृत्तियों से। वर्णों और शब्दों की विशेष-रचना-रीति को वृत्ति कहते हैं। इसके तीन भेद हैं:—

प्रथम हैः— कोमला-वृत्तिः— जिसमें प्रत्येक वर्ग के प्रथम और तृतीय वर्ण, अल्प-सामासिक पदावली, तथा उपस्वर विशेष रूप में आते हैं। इसमें प्रसाद गुण की प्रधानता रहती है और यह वृत्ति अद्भुत और वीभत्स- रस के लिये अधिक उपयुक्त है। जैसे:—

विरति-विवेक-विनय-विज्ञाना।
बोध जथारथ वेद-पुराना।

× × ×

देव वंदनी के निमि वंस-नंदनी के जुग
नीके पद-कंज मिथिलेस-नंदनी के हैं।

× × ×

उक्त पंक्तियों में कोमल-वर्णों की अधिकता है।

उपनागरिका वृत्तिः— जिसमें माधुर्य गुण वाले मधुर और मंजुल वर्णों की समास-रहित योजना होती है। टवर्ग और संयुक्त वर्णों को छोड़ कर प्रत्येक वर्ग के प्रथम वर्ण और अनुस्वार-युक्त वर्ण इसके लिये उपयुक्त हैं। यह वृत्ति शृङ्गार, हास्य, शान्त और करुण-रस के लिये उपयुक्त है। जैसे:—

कल-कपोल स्रुति कुंडल लोला।
हास-बिलास लेत मन मोला।

× × ×

इसमें मंजुल-वर्णों की प्रधानता और प्रचुरता है। कल-कपोल, हास-बिलास, मन-मोला में छेकानुप्रास है।

परुषा-वृत्तिः— ओजमूलक महाप्राण-वर्णों और दीर्घ समासों की रचना-रीति है। प्रत्येक वर्ग के द्वितीय और चतुर्थ, टवर्ग, और संयुक्त वर्ण इसमें अधिक रहते हैं। दीर्घ समास भी अधिक रहता है। यह वृत्ति रौद्र, वीर भयानक-रस के लिये अधिक उपयुक्त है। जैसे:—

'केसव' कोदंड विषदंड इव खंडेउ जब,
मेरे भुज-दंडन की बड़ी है विडंबना।

× × ×

वक्र वक्र करि पुच्छ करि, रुष्ट रिच्छ-कपि-गुच्छ।
सुभट ठट्ट घन-घट्ट सम, मर्दहिं रच्छन तुच्छ।

× × ×

इसमें टवर्ग, और संयुक्त वर्ण अधिक आये हैं, और इसी से यह अधिक ओज-पूर्ण भी हैं।

वृत्त्यनुप्रास में शब्दों के आदि अथवा अन्त के एक वर्ण अथवा अनेक वर्णों की आवृत्ति अनेक बार होती है और उक्त वृत्तियों के साथ रहती है। जैसे:—

कूलन में केलि में कछारन में कुंजन में
क्यारिन में कलित कलीन किलकंत हैं।

इस पंक्ति में प्रत्येक शब्द के आदि में "क" वर्ण की आवृत्ति है। इसी प्रकार कोमला वृत्ति के द्वितीय उदाहरण में अन्तिम वर्ण "नीके-नीके" की आवृत्ति कई बार हुई है।

नोटः— तुक भी एक प्रकार का अन्त्यानुप्रास है, जो छन्दों के चरणान्त में रहता है। शब्दों के अन्त में आने वाले अनुप्रास को भी अंत्यानुप्रास कह सकते हैं। छन्द में चरणान्त के जितने ही अधिक वर्ण स्वर-साम्य के साथ आवृत्ति में आते हैं उतना ही अच्छा तुक माना जाता है।

वर्णों के उच्चारण-स्थान-साम्य के विचार से श्रुत्यनुप्रास भी माना गया है। इसमें वर्णों की आवृत्ति तो नहीं होती, किन्तु उनके उच्चारण-स्थान में आवृत्ति होती है। जैसे:—

वंदौ गुरु- पद - पद्म - परागा।
सुरुचि सुबास सरस अनुरागा।

इसमें प्रथम और द्वितीय वर्णों की ही आवृत्ति है। श्रुत्यनुप्रास एक दृष्टि से छेक और वृत्य में भी रहता है। वर्णों के उच्चारण-स्थान के भेद से इसके कंठ, तालव्य, मूर्धा, दंत, ओष्ठ सम्बन्धी ५ भेद हैं।

—❀—

शब्दावृत्ति के आधार पर मुख्यतया शब्दालङ्कार दो और अर्थालङ्कार एक है। एक दृष्टि से शब्दावृत्ति मूलक-अलङ्कारों में से अर्थ-चमत्कार आधारभूत रहता ही है। शब्दावृत्ति मूलक प्रथम अलङ्कार है यमक।

लाट-अनुप्रासः— इसका सम्बन्ध शब्दावृत्ति और वाक्यावृत्ति दोनों से है, इसलिए इसके दो रूप हैं।

शब्दावृत्ति-मूलकः— यह रूप साधारण है, और वस्तुतः उपयुक्त नहीं। जैसे:—

"नाचत 'रसाल' मन मोर हरियारी माँहि,
नाचत इते हैं मन मोरे हरियारी मैं।"

× × ×

यहाँ नाचत, मन मोर और हरियारी की आवृत्ति तात्पर्यान्तर और अर्थान्तर के साथ है।

वाक्यावृत्ति-मूलक:— यह इसका सच्चा रूप है। जैसे:—

औरन के जाँचे कहा, जिन जाँच्यो सिवराज।
औरन के जाँचे कहा, जु न जाँच्यो सिवराज।

इसमें पूर्ण वाक्य की आवृत्ति पूरी है, केवल जिन, और जु न शब्द में अन्तर है, जिन का अर्थ है जिन्होंने और जुन का अर्थ है जो नहीं, इसी से अर्थान्तर और तात्पर्यान्तर हुआ है

इसमें पूर्ण वाक्या वृत्ति के होने से तात्पर्यान्तर ही मुख्य रहता है।

—❀—

यमक:— इसमें स्वर-साम्य और यथाक्रमता के साथ वर्ण-समुदाय अथवा तज्जन्य शब्द की आवृत्ति अर्थान्तर के साथ होती है। इसके दो भेद हैं:— एक है :—सभंग-जिसमें शब्द के तोड़ने पर अर्थान्तर होता है। जैसे:—

तू मोहन के उर- बसी, है उरबसी समान।

× × ×

इसमें एक बार उरबसी का अर्थ है अप्सरा विशेष, और दूसरी बार उस को तोड़ने पर (उर + बसी) हृदय में बसी हुई यह अर्थ है।

अभंग:— जिसमें अनेकार्थ-वाची शब्द को रखकर बिना तोड़े ही अर्थान्तर होता है। जैसे:—

लागी रहै नैननि सौं नीर की झरी औ
उठै चित मैं चमक, सो चमक चपला की है।

इसमें चमक-शब्द के दो अर्थ हैं, अर्थात् चमकना और पीड़ा।

—❀—

श्लेष-अलंकार:— यह अर्थ गौरव मूलक है और दो प्रकार का

है :— (१) शब्दात्मक— जिसमें श्लिष्ट-शब्द के पर्य्याय वाची शब्द के रख देने से अर्थान्तर-चमत्कार न रह जाये। जैसे:—

बिन घनस्याम धाम धाम ब्रज-मंडल में
ऊधौ नित बसत बहार बरसा की है।

इसमें घनस्याम पद श्लिष्ट है और काले बादल तथा कृष्ण का अर्थ देता है और दोनों अर्थ चरितार्थ होते हैं, किन्तु इसके पर्य्यायवाची कृष्णार्थक शब्द के रख देने से चमत्कार न रह जायगा।

(२) अर्थगतः— जिसमें श्लिष्ट-शब्द के पर्याय वाची शब्द के रखने से भी अर्थ-चमत्कार ज्यों का त्यों बना ही रहे। जैसे:—

सुगुन सुभूषन सुभ सरस,
सुबरन सुखद सुराग।
अस कविता अस कामिनी,
लहिय, होय बड़ भाग।

इसमें सुभूषन, सुबरन आदि शब्द श्लिष्ट हैं और बदले जाकर भी अपना चमत्कार रक्खेंगे।

श्लेष के फिर दो भेद और भी हैं :—

(१) सभंग— जिसमें शब्द के तोड़ देने से अर्थान्तर हो सके। जैसे—

"सुबरन को खोजत फिरत, कवि, व्यभिचारी चोर।

यहाँ सुबरन श्लिष्ट है, और दो अर्थ देता है, अर्थात् सुवर्ण या सोना और तोड़ देने पर सुन्दर वर्ण या रंग।

इसी प्रकारः—"संतत सुरानीक हित जेही
बहुरि सक्र सम बिनवहुँ तेही"—

इसमें 'सुरानीक' शब्द शिलष्ट है, और तोड़ देने पर सुर अर्थात्

देवताओं की अनीक अर्थात् सेना का अर्थ देता है, और योंही सुरा अर्थात् मदिरा तथा नीक अर्थात् अच्छी का भी अर्थ देता है।

श्लेषालङ्कार बहुत प्रबल होता है, अपनी अर्थ-शक्ति से यह सभी अलङ्कारों को बलात् दबाकर ऊपर आप ही दिखाई पड़ता है। श्लेष वहीं मान्य है जहाँ इससे प्रकट होने वाले भिन्न-भिन्न अर्थ कवि के अभीष्ट अर्थ हों। इसीसे मिलता हुआ अलङ्कार मुद्रा है। यह अर्थ गाम्भीर्य्य-सूचक अलङ्कार है।

जहँ अभीष्ट बहु अर्थ, प्रकट होत हैं काव्य में।
तहाँ 'रसाल' समर्थ, श्लेषाभरण सुहिं॥

—०—

वक्रोक्ति—वहाँ होती है जहाँ किसी विशेष अभिप्राय से कथित वाक्य का चातुरी से अन्य-अर्थ लिया जाय। इसका शब्दार्थ है:— टेढ़ी उक्ति या, टेढ़ा कथन, अतएव इसमें सीधी बातों को घुमा-फिरा कर अर्थान्तर कर लिया जाता है। इसके दो मुख्य भेद हैं।

(१) शिलष्ट-वक्रोक्तिः— जहाँ एक से अधिक अर्थ देने वाले शिलष्ट शब्दों के कारण अर्थान्तर हो। जैसे—

"टेरत को, तौ कह्यो-हौं गोपल, कह्यो,
बन जाहु लै धेनु चरावौ।"

यहाँ राधा ने पूछा कि कौन बुलाता है, कृष्ण ने कहा कि मैं गोपाल हूँ, राधा ने उस पर कहा कि तब गायें लेकर बन में जाकर चराओ। इस प्रकार गोपाल शब्द को शिलष्ट मान कर अर्थान्तर किया गया है।

(२) काकु वक्रोक्तिः— जहाँ शब्दों या वर्णों पर कुछ बलाबल देकर अर्थान्तर या तात्पर्यान्तर किया जाये। जैसे—

"मैं सुकुमारि, नाथ बन जोगू"।

इसमें शब्दों पर बल रखने से भाव यह होता है कि क्या मैं कोमल

हूँ और आप वन के योग्य हैं, अर्थात् ऐसा नहीं है। इसी प्रकार—

'मारो' मत जाने दो खल को—

यदि यहाँ मारो पर बल दिया गया और रुका गया तो एक अर्थ होता है और यदि मारो मत पर बल रहा और रुका गया तो दूसरा अर्थ होगा।

(३) आर्थी—जहाँ पर्यायवाची शब्द के रखने पर भी अभीष्ट अर्थान्तर हो सके। जैसे—

"गिरजे ! कित जाचक गयो,
जाचक गो बलि-द्वार।"

उमा से यहाँ हरि पूछते हैं कि याचक कहाँ गये, उमा से उत्तर मिला कि बलि के द्वार को। अब याचक के स्थान पर यदि भिक्षुक शब्द रख दें तो भी वही अर्थ होगा।

जहँ सहेतु इश्टार्थ पै, हो अन्यार्थारोप।
काकु, श्लिष्ट वक्रोक्ति द्वै, कहत 'रसाल' सचोप॥

इन सब अलंकारों के अतिरिक्त और भी कई शब्दालंकार तथा उनके विविध रूपान्तर और प्रकारान्तर होते हैं। वीप्सा और पदार्थवृत्ति दीपक भी शब्दावृत्ति मूलक अलंकार है। इसी प्रकार पुनरुक्तप्रकाश, पुनरुक्तवदाभास जैसे और भी कई शब्दालंकार हैं। जहाँ विदेशी भाषा के चिर परिचित तथा सुप्रसिद्ध शब्दों का चमत्कृत प्रयोग हो, यहाँ भाषा-समक या भाषासम अलंकार माना गया है। यह अलङ्कार कदाचित तभी आया होगा जब अन्य भाषा-शब्द प्रचलित होकर परिचित और सुप्रयुक्त हो गये होंगे— इसमें भी विचित्र चमत्कार रहता है। इस अलंकार के भी कई प्रकार हैं। देखिये "अलंकार-पीयूष"।

अध्याय ५

अर्थालंकार

जिन विधानों के द्वारा काव्य में अर्थ-सम्बन्धी चमत्कार-सौन्दर्य आता है, उन्हें अर्थालंकार कहते हैं।

भाव या अर्थ ही काव्य क्या, प्रत्येक वाक्य का मुख्य अंग है, इसी के व्यक्त करने के लिये शब्दों और वाक्यों की आवश्यकता होती है। इसीलिये भाव या अर्थ को ही प्राधान्य दिया जाता है।

यह भी स्पष्ट है कि भाव को प्रभाव-पूर्ण बनाने के लिये भाषा को विशेष रूप में रखना पड़ता है, वाक्यों की एक विशेष रीति से रचना तथा योजना करनी पड़ती है। कभी तो ठीक उसी रूप में शब्दों को वाक्यों में रखना पड़ता है, जिस रूप में वे स्वभावतः मन में किसी भाव को प्रकट करने के लिये आते हैं। साथ ही कभी भाव को सबल बनाने के लिये उन्हें एक विशेष रीति-नीति से वाक्यों में पिरोना पड़ता है। जब अपने स्वाभाविक रूप में शब्द रक्खे जाते हैं तब उस रीति को स्वभावोक्ति कहते हैं, यह भी एक अलङ्कार है। कुछ ने इसे ही प्रधान्य दिया है।

जब भाव को उत्कर्ष देने और सशक्त बनाने का विचार होता है तब विचार-पूर्वक शब्दों को रखना पड़ता है। इसके लिये विशेष ढंगों से

शब्दों को व्यवस्थित भी करना पड़ता है, इससे अनेक प्रकार के शब्द-संगुफन-विधान या अलंकार प्रकट हो जाते हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि भाव या अर्थ को सबल और प्रभाव-पूर्ण बनाने-वाले अर्थालङ्कारों का ही प्राधान्य काव्य में होता है और होना भी चाहिये, किन्तु यह भी निस्संदेह सत्य है कि सर्व प्रथम किसी काव्य के सुनने और पढ़ने में ध्यान शब्द की चारुता की ही ओर जाता है, इसीलिये प्राचीन काव्य में शब्दालङ्कारों का प्रयोग अधिक किया जाता था। इसी के साथ यह भी ठीक है कि उस समय उपमा जैसे कुछ उन्हीं अलङ्कारों का प्रयोग किया जाता था, जिनकी सहायता से काव्य सर्वथा स्पष्ट और सुबोध बनाया जा सके। फिर शनैः शनैः संस्कृति-सभ्यता और साहित्य के विकसित होकर बढ़ने पर कला-कौशल-पूर्ण चमत्कार-चारुता के लिये अन्य अलंकारों का प्रचलन और प्रवर्धन हुआ। काव्य और काव्य शास्त्र के विकास-सूचक ग्रंथों से यह स्पष्ट है।

जिन अलङ्कारों से भावनाओं में तीव्रता आती है और जिन अलङ्कारों से भाव के प्रकाशन में विशेषता और विचित्रता आती है उन अलङ्कारों का प्रचार और प्रसार क्रमशः धीरे धीरे हुआ। इस समय तक अलंकारों की संख्या १२० से अधिक है। काव्य-कला के क्रमिक-विकास से अर्थालंकारों का भी क्रमिक विकास हुआ। कवियों की नवीन चमत्कृत उक्तियों और कुतूहलप्रद कथन-विधानों के आधार पर अलंकारों के भेदोपभेद भी बढ़ते गये। उत्तर-काल में इस प्रकार अर्थालंकारों का विशेष विकास और प्रचार हुआ और बहुधा काव्य-शास्त्र के ग्रन्थों में आगे उन्हीं को प्राधान्य भी दिया गया। स्वाभाविक और व्यापक अलंकारों में से उपमालंकार सबसे प्रधान है। एक मत तो यह है कि अलंकारों का प्राण उपमा ही है।

उपमा का विवेचन करने से पहिले कुछ पारिभाषिक-शब्दों का जानना आवश्यक है।

पारिभाषिक-शब्दः— ऐसे शब्द जिनके द्वारा विशेष बड़े भाव को प्रगट किया जाता है, पारिभाषिक-शब्द कहा जाता है, क्योंकि शास्त्रीय विवेचन में बार बार एक ही भाव आता है, इसलिए उस भाव के सांकेतिक-शब्द का प्रयोग ही स्थान और समय-लाघव के लिए आवश्यक होता है। अलंकार-विषय से सम्बन्ध रखने वाले कुछ अनिवार्य-शब्द इसलिए यहाँ दिए जाते हैं:—

उपमेय (उपमा देने के योग्य):— उस वस्तु अथवा व्यक्ति को कहते हैं जो वर्णनीय या वर्ण्य हो और जिसके स्पष्ट करने के लिए किसी दूसरी परिचित वस्तु या व्यक्ति के साथ जिसकी तुलना की जाय और समानता दिखलाई जाय। जैसे:— रामचन्द्रजी के नेत्र कमल से हैं। यहाँ रामचन्द्र जी के नेत्र उपमेय हैं, क्योंकि उनका परिचय देने के लिए ही कमल लिया गया है। कमल एक परिचित-पदार्थ है और उसके साथ नेत्र की समानता के दिखाने से नेत्र का पूरा परिचय प्राप्त हो जाता है और भाव एक प्रकार से प्रत्यक्ष सा हो जाता है।

उपमेय के दूसरे पर्यायवाची शब्द हैं— विषय, प्रासंगिक, प्रस्तुत, विशेष्य और वर्ण्य।

उपमानः— जिस वस्तु या व्यक्ति से उपमेय की तुलना, समानता के साथ की जाती है, उसे उपमान कहते हैं। इसे सुपरिचित, व्यापक और अविद्यमान होना चाहिए। जैसे उक्त उदाहरण में नेत्र की समानता कमल से दिखलाई गई है, इसलिए कमल उपमान है।

इसके पर्यायवाची शब्द हैं :— अप्रासंगिक, अप्रस्तुत, विशेषण विषयी और अवर्ण्य।

धर्मः— (लक्षण या गुण) जिस गुण, लक्षण या विशेषता के

आधार पर उपमेय और उपमान में समता दिखाई जाती है, उसे साधारण धर्म कहते हैं। जैसेः— नेत्र कमल से सुन्दर हैं। यहाँ सुन्दरता के आधार पर नेत्र और कमल में समानता कही गई है। इसलिए सुन्दरता साधारण-धर्म है।

विशेष-धर्मः— वह गुण है जो उपमेय या उपमान में से किसी में रहकर उसे पृथक और विशेष करता है। "कमल संध्या में संकुचित होते हैं, अतः नेत्र तद्रूप होकर भी कमल नहीं"। संकुचन गुण यहाँ कमल में एक विशेष गुण है।

वाचकः— उपमेय और उपमान की तुलना या समानता को प्रगट करने वाला शब्द है। जैसेः— उक्त उदाहरण में "से" (समान) पद है। ऐसे अन्य शब्द सदृश, सम, तुल्य, वत, इव आदि भी वाचक पद कहे जाते हैं।

—❀—

जाकी तुलना कीजिये, सोई है उपमेय,
है सोई उपमान नित, जासों समता देय।
तुलना जासों प्रगटिये, है वाचक पद सोइ,
जाके हित समता करिय, धरम उभयगत होइ।

× ×

चारि अंग उपमा के ऐसे,
कहे चतुर जन बरनत जैसे।

× ×

उपमा उपमेय और उपमान में तुलना कर समानता सूचित करने वाला और स्वाभाविक विधान है। यह अति व्यापक अलंकार है, अतः प्रधान है। इसके दो भेद हैः—

प्रथम तो है:—

पूर्णोपमा— यह वहाँ होती है जहाँ वाक्य में उपमेय, उपमान, धर्म और वाचक सबके साथ उपमा दी जाती है। जैसे:—

विमल-वदन विधु सरिस सुहाई।

× ×

यहाँ बदन उपमेय, विधु उपमान, सरिस वाचक और विमलता धर्म है। उपमा के वाचक-शब्द (ब्रजभाषा और अवधी में) हैं— सम, समान, से, सी, सों, लौं, सरिस और (खड़ी बोली में) सम, समान, सदृश, तुल्य, इव, सा, सी, से।

"जहाँ चार हू अंग लै, समता कीन्हीं जाय।
पूरन उपमा नाम से, उपमा तहाँ कहाय।

नोट:— सम, समान आदि वाचकों के साथ सम्बन्ध-कारक के चिह्न आते हैं इसलिए इन वाचकों से युक्त उपमा को **आर्थी** और सी, से, आदि वाचकों के साथ सम्बन्ध की विभक्ति नहीं आती, इससे इनसे युक्त उपमा को **श्रौती** कहते हैं।

प्रायः रूप या आकार, वर्ण या रंग, गुण और क्रिया तथा स्वभाव के आधार पर उपमा में समता दिखाई जाती है। कभी तो किसी एक के लिए और कभी सब के लिए।

उपमा का दूसरा भेद है:—

लुप्तोपमाः— यह वहाँ होती है जहाँ उपमेय, उपमान आदि उक्त उपमा के चारों अंगों में से किसी एक, दो या अधिक का लोप कर दिया जाता है। जब उपमेय, धर्म और वाचक तीनों का लोप होता है तब रूपकातिशयोक्ति अलङ्कार कहा जाता है। जैसे:—

नीरज-सरिस नयन रघुबर के।

× ×

यहाँ नयन उपमेय, नीरज उपमान, सरिस वाचक पद यह तीन ही व्यक्त है, धर्म का लोप है, अतः यह धर्मलुप्तोपमा है।

नवल-कमल सिय-लोचन सुन्दर।

× ×

इसमें लोचन उपमेय, कमल उपमान, नवलता और सुन्दरता धर्म है। यहाँ यह तीन ही प्रकट हैं, किन्तु वाचक पद लुप्त है, इसलिए यहाँ वाचकलुप्तोपमा है।

कनक-बेलि सी सुबरन वारी।

× ×

यहाँ कनक-बेलि उपमान, सी वाचक, सुबरन धर्म है, किन्तु यहाँ उपमेय का लोप है, इसलिए यहाँ उपमेयलुप्तोपमा है।

हरि-मुख-सम सुन्दर कहु कैसे।

× ×

इसमें हरि-मुख उपमेय, सम वाचक, सुन्दर धर्म है, ये ही यहाँ व्यक्त है, किन्तु उपमान लुप्त है। इसलिए यहाँ उपमानलुप्तोपमा है।

इसी प्रकार दो अंगों का भी लोप किया जाता है। ऐसे स्थान पर प्रायः रूपक-अलङ्कार होता है।

वारिज-नयन राम इत आये।

× ×

यहाँ पर नयन उपमेय, वारिज उपमान है, ये दो ही यहाँ व्यक्त है, किन्तु वाचक और धर्म का लोप है, इसलिए यहाँ धर्म-वाचक-

लुप्तोपमा या रूपक कहेंगे।

उपमांगन को लोप जहँ, कीजै काहु प्रकार,
तहँ रसाल कवि लीजिये, लुप्तोपमा विचार।

—❀—

अनन्वयः—यह वहाँ होता है जहाँ पर उपमेय के समान कोई भी उपमान नहीं मिलता और इसीलिए वही अपना उपमान कहा जाता है। यह उपमा का ही एक विशेष रूप है। प्रायः इसमें धर्म का लोप भी रहता है और नहीं भी रहता। जैसेः—

सिय-मुख सरिस सीय-मुख भाई।

× ×

यहाँ सिय-मुख उपमेय और वही सिय-मुख उसका उपमान भी है, सरिस वाचक पद है, धर्म का यहाँ लोप है, किन्तु :—

सुन्दर रघुवर-नैन से सुन्दर रघुबर-नैन।

× ×

यहाँ पर सुन्दरता का गुण भी कहा गया है।

जहाँ होत उपमेय ही अपनोई उपमान,
तहाँ अनन्वय जानिये, कहत 'रसाल' प्रमान।

—❀—

रूपकः— रूपक का अर्थ है रूप का करना। जहाँ उपमान का सारा रूप उपमेय में चित्रित हो और केवल सादृश्य ही न हो वरन् एक-रूपता के साथ अभेद का भाव हो, वहाँ रूपक होता है। वाचक-धर्म-लुप्तोपमा का यह वह विशेष रूप है जिसमें अभेद के भाव से एक-रूपता का स्थापन या आरोपण किया जाता है। रूपक के सबसे विशद तथा सुन्दर उदाहरण तुलसीदास के रामचरित-मानस में मिलते हैं।

रूपक के मुख्य दो भेद हैं:— प्रथम है:—(१) सांग रूपक— जिसमें उपमान के सभी अंगों का आरोप उपमेय पर हो। जैसे—

उदित उदय-गिरि-मंच पर, रघुवर-बाल-पतंग।
बिकसे संत-सरोज सब, हरषे लोचन-भृंग॥

× ×

इसमें सूर्योदय के सभी लक्षण रामचन्द्र जी के मंच पर आने में दिखाये गये हैं, जैसे संत-सरोजों का खिलना और लोचन-भृंगों का प्रसन्न होना।

जब उपमान के सभी अंगों का उपमेय पर आरोप होता है तब समस्त वस्तु विषयक और जब केवल कुछ ही अंगों का आरोप होता है तब एक देश विवर्ती होता है। जैसे:—

नाम पाहरू, दिवस-निसि, ध्यान तुम्हार कपाट।
लोचन-मग पद-जंत्रिका, प्रान जाँहि केहि बाट॥

× ×

यहाँ ध्यान और लोचन-मग तथा नाम पर कपाट, पद-यंत्रिका और पाहरू का आरोप किया गया है। प्राण का अंग छोड़ दिया गया है।

निरंगः— वहाँ होता है जहाँ उपमान का आरोप बिना उसके अंगों का उल्लेख किये ही उपमेय पर होता है, हाँ प्रधान अंग या गुण के द्वारा अभेद अवश्यमेव प्रगट किया जाता है। जैसे:—

चरन-कमल मृदु-मंजु तिहारे।

× ×

चरण-कमल में मृदु-मंजुता के आधार पर अभेदप्रद निरंग रूपक है।

प्रस्तुत अप्रस्तुत-कथन, जहँ अभेद सों होय।
अंग-सहित के अँग-रहित, रूपक कहिये सोय।

× ×

परम्परित-रूपकः— जहाँ एक रूपक किसी दूसरे रूपक का हेतु अथवा आधार होकर उस पर निर्भर रहता है और रूपक की एक परम्परा सी चलती है उसे परम्परित रूपक कहते हैं। जैसेः—

अंगद तुही बालि कर बालक।
उपज्यो वंस अनल कुल-घालक।

× ×

यहाँ अनल और घालक दो उपमानों का आरोप अंगद पर है। घालक का भाव अनल से पुष्ट होता है।

इक रूपक जब होत है, दूजे को आधार,
परंपरित रूपक कहत, तहाँ 'रसाल' उदार।

रूपक के दो भेद और भी होते हैं :—

(१) अभेद-रूपकः— जिसमें उपमान के गुण-कर्म-स्वभावादि का बिना निषेध के अभेद-भाव के साथ उपमेय पर आरोप हो। जब कभी पूर्ण समानता के साथ ऐसा हो तो समाभेद, जब कुछ अधिकता के साथ हो, तब अधिकाभेद, और जब कुछ न्यूनता के साथ हो, तब हीनाभेद-रूपक होता है। जैसेः—

लखि निकलंक मयंक-मुख, सुख पावत ये नैन,

× ×

पवन-तनय कौ जानिये, पंख-रहित खग राय ।

× ×

तद्रूप-रूपकः— जहाँ उपमान का रूपारोप उपमेय पर होता है। इसके भी सम, अधिक और हीन तीन भेद होते हैं। जैसेः—

दुइ भुज के हरि रघुवर, सुन्दर भेष।
एक जीभ के लछमन, दूसर शेष।

× ×

इसके वाचक-पद प्रायः अन्य, अपर, और, द्वितीय आदि पद होते हैं।

रूपक में जहँ देखिये, रूपहि को आरोप,
सोइ रूपक तद्रूप है, कहत 'रसाल' सचोप।

—०—

माला रूपकः— जहाँ कई रूपकों की एक माला सी होती है वहाँ माला रूपक कहा जाता है।

नोटः— रूपक को श्लिष्ट करके चमत्कृत भी किया जाता है। जैसेः—

संकर-मानस-राज-मराला।

× ×

यहाँ मानस-शब्द श्लिष्ट है। रूपक बहुत व्यापक और कवियों का अति प्रिय-अलङ्कार है। सादृश्य मूलक अलंकारों में यही प्रबलतथा रुचिर है।

—❀—

प्रतीपः— प्रतीप-शब्द का अर्थ है विलोम या उलटा। यह भी उपमा का एक विशेष भेद है। जहाँ प्रसिद्ध उपमान को उपमेय करके

अथवा प्रसिद्ध उपमेय को उपमान करके समानता दिखलाई जाय और इस प्रकार उसे उत्कृष्ट बनाया जाय वहाँ प्रतीप होता है। उपमा में जो प्रसिद्ध उपमान रहता है प्रतीप में वही उपमेय हो जाता है। जैसेः—

ऐंठ दिखावत लोचन क्यों तुम सौं अति सुन्दर पंकज सोहैं।

× ×

यहाँ पंकज प्रसिद्ध उपमान और नेत्र उपमेय हैं, किन्तु नेत्रों से अधिक उत्कर्ष उनका कहा गया है।

तरनि-तनूजा-नीर, सोहत स्याम-सरीर-सम।

इसमें श्याम-शरीर उपमान और नीर जो प्रसिद्ध उपमान था उपमेय हो गया है।

उपमा को जहँ उलटिये, तहाँ प्रतीप बखान।
तिरस्कार को भाव जहँ, भेद दूसरो जान।

द्वितीय-प्रतीपः— जहाँ प्रसिद्ध उपमेय का प्रसिद्ध उपमान के द्वारा कुछ तिरस्कार सा किया जाय और उसके उत्कर्ष में न्यूनता दिखाई जाय। जैसे उक्त प्रथम उदाहरण में।

तृतीय प्रतीपः— इसका विलोम रूप वहाँ होता है जहाँ उपमान का तिरस्कार उपमेय से उसकी हीनता और लघुता के कारण कराया जाता है, यही तृतीय-प्रतीप कहलाता है। उपमा के समान इसमें भी समता का भाव रहता है, यही इसकी विशेषता है।

विद्युत की द्युति फीकी लगै, रघुबीर-प्रिया-मुसकान के आगे।

× ×

यहाँ प्रसिद्ध उपमान विद्यत का तिरस्कार इसलिये हुआ कि वह सिय-

मुसकान से अल्प है। इसके वाचक पद प्रायः व्यर्थ, फीके, न्यून, निरर्थक अथवा इसी भाव के सूचक अन्य पद होते हैं।

चतुर्थ-प्रतीपः— प्रसिद्ध उपमेय के गुणोत्कर्ष से प्रसिद्ध उपमान जहाँ उसकी समता न पा सके और यह कहा जाय कि दोनों में समानता नहीं। यह अस्वीकार-सूचक, अथवा हेतु-सूचक प्रश्न-युक्त भी रहता है। जैसेः—

सिय-मुख समता पाव किमि, चंद बापुरो रंक।

× ×

कल्पद्रुम तव कर सहस, उक्ति उचित नहिं होय।

× ×

इसमें उपमान और उपमेय में समता नहीं है, वरन् हीनता है।

पञ्चम-प्रतीकः— उपमेय के द्वारा उपमान के सभी कार्यों के होने पर, उपमान को जहाँ व्यर्थ कहा जाय। इसके वाचक-पद हैं— बादि, वृथा, कहा, मन्द, विकल आदि के पर्य्यायीवाची शब्द। जैसेः—

बादि विधाता कियौ विधु को,
सिय को मुख सौम्य-सलोनो इहाँ जब।

× ×

यहाँ सीता के मुख के समक्ष चन्द्रमा को व्यर्थ कहा गया है।

लघुता - सूचन सों यहै, होत तीसरो भेद,
अति गुनसों समता न जहँ, चौथो रूप अखेद।
व्यर्थ कहिय उपमान जहँ, पाइ पूर्ण उपमेय,
कह 'रसाल' कवि पाँचवों, तेहि प्रतीप कहि देय।

—❀—

उत्प्रेक्षाः— वहाँ होती है जहाँ भेद रहते हुए भी कल्पना से उपमेय के लिए चमत्कृत उपमान की खोज कर अप्रस्तुत के रूप में प्रस्तुत की कल्पना हो।

नोटः— उत्पेक्षा का अर्थ है बल-पूर्वक ऊपर देखना। उपमा का यह भी एक विशेष रूप है। इसके वाचक-पद विशेष होते हैं। इसके समान रूपक में भी आरोप का भाव रहता है, किन्तु अभेद के साथ। इसमें उपमेय और उपमान में अभेद का भाव नहीं रहता है। भेद-भाव के द्वारा संशयात्मक-ज्ञान पर संदेह अलंकार और निश्चय या साम्य के बोध से सम्भावना-अलङ्कार होता है।

अप्रस्तुत के रूप में, प्रस्तुत कल्पित होय,
उत्प्रेक्षालंकार सुठि, कह 'रसाल' कवि सोय।

इसके वाचक-पद हैं:— मनु, जनु, मानो, जानो, मनहुँ मनौ, बहुधा इत्यादि। जिसमें वाचक-पद न हों उसे प्रतीयमान या गम्योत्प्रेक्षा कहते हैं और वाचक-पदों के होने पर वाचोत्प्रेक्षा है।

इसके तीन भेद और हैं :— (१) वस्तूत्प्रेक्षाः— जहाँ प्रस्तुत-वस्तु की कल्पना हो यदि उत्प्रेक्षा प्रगट है तो उक्त विषया और यदि अप्रगट है तो अनुक्त-विषया कही जायगी। जैसे:—

भानु-सुता-जल पै परति, बाल-भानु-छबि सोह।
मनहुँ स्याम-तनु पै पर्यो, पीत बसन मन मोह।

× ×

इसमें रवि-छवि उत्पेक्षा-वस्तु है और वह व्यक्त है, अतः यह उक्त विषया है किन्तु :—

उदित सुधाकर जनु करत, सुधा सिंची बसुधाँहि।

× ×

यहाँ उत्प्रेक्ष-वस्तु चाँदनी है और वह अव्यक्त है अतः अनुक्त-विषया है।

हेतूत्प्रेक्षाः— उत्प्रेक्षा के कारण को व्यक्त करने पर होती है। यह हेतु सम्भव और असम्भव दोनों रूपों में आ सकता है। प्रायः सत्य हेतु के होने पर चमत्कार नहीं रहता। जैसेः—

सोहत जनु जुग जलज-सनाला।
ससिहिं सभीत देत जय-माला।

× ×

यहाँ जलज रूपी हाथों का मुख रूपी चन्द्र को माला देने में उत्प्रेक्षा है, उसका हेतु है भय, जो प्रसिद्ध और सम्भव है।

"उत्प्रेक्षा को हेतु जहँ, हेतूप्रेक्षा जान,
साध्यासाध्य सुभेद द्वै, कहत 'रसाल' बखान।"

फलोत्प्रेक्षाः— किसी कार्य के फल पर उत्प्रेक्षा करने पर होती है। यह फल, सिद्धि या सम्भव हो, चाहे न भी हो। जैसेः—

सिय-मुख-समता लहन को, सेवत भानुहिं कंज।

यहाँ कमल सूर्य की ओर इसलिए झुकता है जिससे वह सीता जी के मुख के समान हो सके। अतः यहाँ इष्ट-फल-प्राप्ति के लिए उत्प्रेक्षा है।

नोटः— क्रिया-पद से ही हेतु अथवा फल का भाव प्रकट होता है। बहुधा वाचक-हीन उत्प्रेक्षा को अतिशयोक्ति कहा जाता है।

काहू फल कै कीजिये, उत्प्रेक्षा जो कोय,
फलोतप्रेक्षा ताहि नित, कह 'रसाल' सब कोय।

—❀—

व्यतिरेकः— जहाँ उपमेय में उपमान की अपेक्षा कुछ विशेषता दिखाई जाय। इसके दो रूप होते हैं:— (१) उपमेय की विशेषता-सूचक (२) उपमान की न्यूनता-सूचक।

सिय-मुख है अम्बुज अवसि,
मधुर - गिरा सुविशेष।

× ×

रघुवर जस-प्रताप के आगे। चन्द मन्द, रबि तापहिं त्यागे।

× ×

यहाँ प्रथम में कमल के उपमान से मुख के उपमेय में गिरा-माधुरी की विशेषता है और द्वितीय में यश और प्रताप के उपमेयों से चन्द्र और सूर्य के उपमानों में हीनता कथित है।

जहँ उपमानहिं सौं, कहिय, उपमेयहिं सविसेष,
यह 'रसाल' कवि जानिये, व्यतिरेकहि कौ भेष।

—❀—

उल्लेखः— जहाँ एक व्यक्ति अथवा वस्तु का तात्पर्य-भेद से अनेक रूपों या प्रकारों में कथन किया जाय। इसके दो रूप हैं। (१) जहाँ एक ही व्यक्ति एक ही धर्म या अनेक धर्मों से एक वस्तु को भिन्न भिन्न रूपों में देखें (२) जहाँ अनेक व्यक्ति एक वस्तु को भिन्न भिन्न धर्मों या एक धर्म से भिन्न भिन्न रूपों में प्रकट करें। इसके और भी कई रूप हो सकते हैं। जैसेः—

विदुषन प्रभु विराट मय दीसा।
बहु मुख, बहु पद, लोचन, सीसा।

जनक - जाति अवलोकहिं कैसे।
स्वजन, सगे, प्रिय लागहिं जैसे। इत्यादि

× ×

इसमें राम को भिन्न भिन्न व्यक्तियों ने भिन्न भिन्न रूपों में देखा है। इसी प्रकार :—

साधु सुखद, दुर्जन दुखद, बैरिन विक्रम-हानि।
भक्त परम पद देत नित, राम रावरे पानि।

× ×

यहाँ भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के लिये राम जी के पद सुखद और दुखद हैं।

एकहिं लखहिं अनेक जहँ, धरम-भेद सों भेद,
लखहिं विलोम 'रसाल' पुनि, सो उल्लेख अखेद।

—※—

असंगति:— इस अलंकार के तीन मुख्य भेद हैं :—

(१) प्रथम वह है जहाँ कारण और कार्य का वर्णन भिन्न भिन्न स्थानों में किया जाये। जैसे—

"घलाघली लोयनि करी, हिय घायल बेहाल।"

× ×

यहाँ नेत्रों का कार्य तो पृथक है और उसका परिणाम हृदय पर अन्यत्र हो रहा है।

(२) दूसरा रूप वह है जहाँ कोई कार्य अपने उचित स्थान पर न

होकर किसी अन्य स्थान पर होता है। जैसे—

"खाये पान बीरी सी बिलोचन बिराजैं आज,
अंजन अँजाये मधुराधर अमी के हैं।"

× ×

यहाँ नेत्र तो पान खा रहे हैं और अधरों पर अंजन लगा हुआ है। कहीं पर होने वाला कार्य कहीं हो रहा है।

(३) तीसरा रूप वहाँ होता है जहाँ किसी कार्य के करने के लिये विचार तो हो किन्तु कार्य उसके विपरीत हो जाये अथवा कोई दूसरा हो जाये। जैसे—

"गई रही हरि-भजन को, ओटन लगी कपास।"

× ×

कारन कहुँ, कारज कहूँ, प्रथम असंगति जान,
उचित ठौर ये दोउ न जहँ, तहाँ द्वितीय बखान।
कारज कोऊ कीजिये, कोऊ कारन होय,
तहाँ असंगति तीसरी, कह 'रसाल' सब कोय।

—❀—

विभावना— इस अलंकार के ६ रूप होते है और इसका भी सम्बन्ध कार्य और कारण-सिद्धान्त से है।

(१) प्रथम रूप वह है जहाँ कारण के बिना ही कार्य का होना कहा जाय। जैसे—

"बिन पग चलै सुनै बिन काना। कर बिन कर्म, करै विधि नाना।"

× ×

यहाँ कारण-रूप वस्तुयें पग, कान और कर अर्थात् हाथ के बिना ही उनके कार्य का होना कहा गया है।

(२) दूसरा रूप वहाँ होता है जहाँ कारण तो समाप्त न हो पाये और कार्य समाप्त हो जाये। जैसे—

"सुनत सिवा को आइबो, रिपु सब चले पराइ।"

× ×

शिवाजी का अभी आगमन नहीं हुआ और इस प्रकार कारण अभी समाप्त नहीं हुआ फिर भी कार्य हो रहा है।

(३) तीसरा रूप वह है जहाँ कारण के लिये रुकावट हो किन्तु कार्य फिर भी हो जाये। जैसे—

"जदपि बसे, हरि जाय उत, आवन पावत नाहिं।
मिलत मोहिं नित तदपि सखि, प्रतिदिन सपने माहिं।"

× ×

यद्यपि कृष्ण अन्यत्र हैं और उनके आने में रुकावट है फिर भी वे प्रतिदिन स्वप्न में मिल जाते हैं।

(४) चौथा रूप वहाँ होता है जहाँ वास्तविक कारण के न होते हुये भी कार्य की सिद्धि हो। जैसे—

"मरत बिना ही मीच रिपु लखि सिवराज-प्रताप।"

× ×

यहाँ मृत्यु नहीं आती तो भी रिपुओं की मृत्यु हो रही है।

(५) पंचम रूप वह होता है जहाँ विपरीत कारण से भी कार्य हो आये। जैसे—

"चुरत चाँदनी मैं अरी, विरह-व्याकुला बाल।"

× ×

यहाँ शीतल चाँदनी में भी बाला जली जाती है यद्यपि ऐसा होना न चाहिये।

(६) छठवाँ रूप वहाँ होता है जहाँ कारण ही कार्य से उत्पन्न हो। जैसे—

"देखहु या विधु-बदन मैं, रस-सागर उमगात।"

× ×

यहाँ सागर से चन्द्रमा उत्पन्न हुआ है किन्तु यहाँ चन्द्रमा में सागर प्रस्तुत है, यद्यपि वस्तुतः सागर में चन्द्रमा है।

कारन बिन कारज जहाँ, यह विभावना एक,
कारज, कारन-पूर्व पुनि, तहँ दूसरो विवेक।
कारन मैं प्रतिबन्ध पै, कारज पूरन होय,
मूल हेतु बिन काज जहँ, अपर भेद ये दोय।
उलटो कारन काज कर, पंचम रूप बखान,
कारज से कारन जहाँ, षष्ट 'रसाल' प्रमान॥

—❀—

अतिशयोक्तिः— वहाँ होती है जहाँ मर्य्यादा के बाहर अत्यन्तता के साथ वस्तु-वर्णन हो। कुछ आचार्यों ने इसे सब अलंकारों से अधिक उत्कर्ष दिया सब में इसे निहित माना है, भी इस कथन में बहुत कुछ सार्थकता। इसके कई भेद हैं :—

(१) सम्बन्धातिशयोक्तिः— दो वस्तुओं के पारस्परिक सम्बन्ध और तज्जन्य उत्कर्ष के अतिशय कथन में होती है। योग्य और अयोग्य दो प्रकार का सम्बन्ध होता है, इसलिए इसमें योग्यता में अयोग्यता और

अयोग्यता में योग्यता का प्रकाशन होता है। जैसेः—

रघुबर-कर के सौंह, को सनमानै कलपतरु।

× ×

जेहि वर वाजि राम असवारा।
तेहि सारदौ न बरनै पारा।

× ×

यहाँ प्रथम कल्प-वृक्ष को जो आदरणीय है रघुबर-पाणि के समक्ष अयोग्य कहा गया है। इससे राम-करोत्कर्ष सिद्ध होता है। दूसरे में रामाश्व-वर्णन सरस्वती-शक्ति से परे है, इससे अयोग्य अश्व का उत्कर्ष कथित हुआ है।

नोटः—सम्बन्ध को सम्भव और असम्भव ठहरा कर सम्भाव्यमाना और जहाँ, जो आदि शब्दों के बिना निश्चित-सम्बन्ध व्यक्त हो वहाँ निर्णीयमाना रूप या भेद होता है जैसेः—

गगन उदित जो होय कहुँ,
बिमल-चन्द अकलङ्क।
तौ वैदेही वदन की,
उपमा लहै मयङ्क॥

× ×

जो सम्पदा नीच-गृह सोहा।
सो बिलोकि सुर-नायक मोहा॥

× ×

यहाँ प्रथम में जो (यदि) शब्द के साथ आनन-विधु-सम्बन्ध सम्भव होता है और द्वितीय में बिना 'यदि' के ही सम्बन्ध निश्चित है। इसका

विलोम रूप है असम्भवातिशयोक्तिः— जहाँ सम्बन्ध के होने पर भी तदाभाव हो और योग्यता में अयोग्यता का भान होने से सम्बन्ध व्यक्त हो।

भेदकातिशयोक्ति— जहाँ अन्य, और आदि शब्दों के द्वारा उपमेय में उत्कर्ष के साथ अन्यत्व के कथन से अभेद में भेद प्रगट हो। इसके वाचक-पद अन्य, और न्यारे आदि पद हैं। जैसेः—

औरै भाँति सीतल-सुगन्ध मद डोलै पौन,
औरै भाँति सबद पपीहन के ब्वै गये।

× ×

नोटः—रूपकातिशयोक्ति में इसके विपरीत होता है, उसमें भेद में भी अभेद रहता है।

सोत्कर्ष उपमेय के, अन्य कहिय धरि भेद,
भेदकातिशय उक्ति तहँ, कहत 'रसाल' अखेद।

× ×

रूपकातिशयोक्तिः—केवल उपमान से ही जहाँ उपमेय का भाव प्रगट हो। जैसे:—

अरुन-पराग जलज भरि नीके।
ससिहिं देत अहि लोभ अमी के॥

× ×

यहाँ शशि प्रसिद्ध उपमान से और जानकी-मुख का उपमेय, अहि उपमान से राम-कर का उपमेय-अरुण पराग से सिन्दूर का उपमेय, जलज के उपमान से पाणि-पल्लव का उपमेय प्रगट किया गया है।

यदि इसी के साथ अपन्हुति और भी मिला दें तो सापन्हव-रूपकातिशयोक्ति होगी।

उपमानहिं सो प्रकट जहँ, उपमेयहु को भाव,
रूपकातिशय उक्ति तहँ, कहत 'रसाल' सचाव।

× ×

अक्रमातिशयोक्तिः—जहाँ कार्य और कारण दोनों साथ ही हों और स्वभावतः पूर्वापर न हों। जैसेः—

गंगा-गंगा कहत ही, दुरत दूर अघ-पुंज।

× ×

अघ-नाशक-कारण गंगा-स्मरण जो कारण है, उससे पाप-नाश का कार्य उसके साथ ही हो रहा है।

नोटः—इसमें कार्य-कारण का समय-क्रम नहीं देखा जाता। इसके वाचक पद हैं— साथ, संग, इत, उत इत्यादि। इसका कहीं कहीं लोप भी रहा है।

अक्रमातिशय उक्ति जहँ, कारन-कारज संग,
स्वाभाविकता सों न जहँ, पूर्वापर को ढंग।

चंचलातिशयोक्तिः—जहाँ कारण के विचार से ही कार्य हो जाय और हेतु उपस्थित ही न हो पावे। जैसेः—

सुनतहिं प्रभु-जश पाप-पराहीं।

× ×

राम नाम स्रुति-पुट परत, पातक पुंज पराहिं।

× ×

यहाँ ईश्वर-यश-श्रवण से ही पाप भागते हैं। इसके वाचक पद हैं :—

अत्यन्तातिशयोक्तिः— जहाँ कारण से पूर्व ही कार्य हो जाय। जैसेः—

फल अनुगामी महिप-मनि, उर अभिलाष तुम्हार।

× ×

यहाँ अभिलाषा से पूर्व ही अभीष्ट फल प्राप्त हो गया। इसके वाचक पद हैं:— पूर्व ही, प्रथम ही, पहिले ही, इत्यादि।

काज होत जहँ, होत ही, उर महँ हेतु-विचार,
चंचलातिशय उक्ति तहँ, कवि 'रसाल' निरधार।

× ×

कारन के पहिलेहि जहाँ, काज सबै ह्वै जाय,
अत्यंतातिशयोक्ति तहँ, सुकवि 'रसाल' कहाय।

—❀—

अपन्हुतिः— वहाँ होती है जहाँ किसी वास्तविक बात को छिपाकर और उसका निषेध कर के कोई सत्य या असत्य बात कही जाय। अपन्हुति शब्द का अर्थ है छिपाना, यही इसका मूल है। प्रायः निषेधार्थक शब्द जैसे न, नहीं, मिस अथवा व्याज इसके वाचक हैं। अपन्हुति के षट् भेद हैं :—

साँची बात दुराइ जहँ, अपर बात कछु थाप,
रहै निषेध, 'रसाल' कहुँ, सुद्धापन्हुति आप।

× ×

(१) शुद्धापन्हुतिः— जिसमें उपमेय या वर्ण्य को असत्य दिखाकर उसका निषेध करते हुये अन्य उपमान को बाद में रक्खा जाय। जैसेः—

ये चपला चमकैं नहीं, चमकैं रिपु-कर वाल।

× ×

नोटः—निषेध आरोप के पूर्व या पश्चात् कहीं भी हो सकता है।

(२) हेत्वापन्हुतिः— जहाँ निषेध और आरोप के साथ हेतु भी दिखलाया जाय। जैसेः—

है यह भयद भुजङ्गिनी, यह न होय कर वाल।
प्रान-पवन भखिवअरिन के, होति नितान्त निहाल।

× ×

यहाँ इसमें खड्ग के खड्ग होने को असत्य कर उसका भुजंगिनी होना कहा गया है और हेतु के रूप में प्राण-पवन भक्षण कहा गया है।

पर्य्यस्तापन्हुतिः— वहाँ होती है जहाँ किसी वस्तु के वास्तविक धर्म का निषेध कर उसके स्थान पर किसी दूसरी वस्तु का धर्म स्थापित किया जाय। जैसेः—

नहिं पीयूष पियूष है, सतसंगति-पीयूष।

× ×

इसमें सुधा के गुण को सुधा से हटा कर सत्संगति पर आरोपित किया गया है।

करि निषेध गुन सत्य को, धरम थापिये आन,
पर्यस्तापन्हुति तहाँ, सुकवि 'रसाल' प्रमान।

× ×

नोटः— इसे दृढ़ारोप रूपक भी कहते हैं, यद्यपि इसमें निषेध रहता है और रूपक में नहीं रहता। इसे सहेतु भी किया जा सकता है।

भ्रान्तापन्हुतिः—वहाँ होता है जहाँ किसी ऐसे भ्रम को दूर किया जाता है, जो भ्रम किसी उक्त सत्य बात को, जिससे भ्रम दूर होता है अन्यथा समझ लेने से उत्पन्न होता है। अर्थात् यहाँ किसी भ्रम जनक असत्य बात का निषेध कर सत्य बात का स्थापन किया जाता है। जैसेः—

कह प्रभु हँसि जनि हृदय डराहू।
लूक न असनि, केतु नहिं राहू।
ये किरीट दसकंधर केरे।
आवत बालि-तनय के प्रेरे।

× ×

यहाँ रावण के किरीट आदि में वज्रादि के भ्रमात्मक-ज्ञान को राम ने उनके सत्य-परिचय से दूर किया है।

नोटः— कल्पित और सम्भव-भ्रम के आधार पर इसके दो रूप हो सकते हैं। साथ ही इसमें भ्रम का निवारण होकर सत्य का निश्चयात्मक-ज्ञान यदि हो तो निश्चयालङ्कार प्राप्त होता है।

भ्रामक झूठ निषेध करि, सत्य थापिये आप,
भ्रान्त्यापन्हुति को तहाँ, कहिय 'रसाल' प्रताप।

× ×

छेकापन्हुतिः— जहाँ किसी गोपनीय-सत्य को व्यक्त करके फिर छिपाया जाय और इस प्रकार किसी अन्य असत्य बात से शङ्का के निवारण का यत्न किया जाय। जैसेः—

कछु न परीच्छा लीन्ह गोसाईं।
कीन्ह प्रणाम तुम्हारेहि नाईं।

× ×

इसमें परीक्षा की बात को अनुचित समझ कर छिपाया गया है, और प्रणाम की बात कह कर शंका दूर की गई है।

नोटः— यह भ्रान्तापन्हुति का विलोम रूप है। छेक का अर्थ है चातुर्य्य। भ्रान्त्यापन्हुति में असत्य जन्य भ्रम को सत्य से दूर करते हैं, इसमें व्यक्त किये गये, सत्य को असत्य से छिपा कर तज्जन्य भ्रम को सत्य से दूर करते हैं। इसमें भ्रम-निवारण आवश्यक नहीं। निषेध से रहित होकर यही व्याजोक्ति हो जाती है और किसी दूसरे की युक्ति बनाकर इसमे तात्पर्य्यान्तर दिखाने से वक्रोक्ति होती है। प्रहेलिक के मुकरी नामक रूप में इसका अच्छा प्रयोग है।

गोपनीय साँचहि प्रकटि, 'बहुरि छिपावै ताहि,
छेकापन्हुति ताहि नित, कहत 'रसाल' सराहि।

× ×

कैतवापन्हुतिः—वहाँ होती है जहाँ मिस या व्याज आदि शब्दों से किसी बात का अन्यथा करते हैं। जैसेः—

रवि निज उदय व्याज रघुराया।
प्रभु-प्रताप सब नृपनि दिखाया।

× ×

यहाँ सूर्योदय की सत्य बात को अन्यथा कर राम-प्रताप को स्थापित किया गया है और व्याज के द्वारा।

नोटः— यहाँ व्याज युक्त और व्याज से गुप्त दोनों वस्तुओं में कार्य कारण अथवा उपमेयोपमान का सा सम्बन्ध रहता है। यहाँ अभीष्ट सिद्धि के लिये युक्ति पूर्ण किया हो, चाहे छल या व्याज से ही हो वहाँ पर्य्यायोक्ति होती है। यहाँ क्रिया नहीं होती वरन् बात छिपा लेने के लिये व्याज से बात कही जाती है।

जहाँ व्याज, मिस, पद धारिय, करिय अन्यथा बात,
तहाँ छलापन्हुति सदा, कह 'रसाल' कवि तात।

× ×

सापन्हवोत्प्रेक्षाः— अपन्हुति के साथ उत्प्रेक्षा रखने से होती है। जैसेः—

भानु सखा सरसिजहिं लखि,
जनु तिन नासन काज।
पैठत सर मैं जनु न्हात नहिं,
रवि - तापित गज-राज।

× ×

इसमें जनु उत्प्रेक्षा-वाचक है, नहाने का निषेध है, ना सन काज सर पैठत असत्य स्थापन है। इस प्रकार अपन्हुति और उत्प्रेक्षा दोनों हैं।

उत्प्रेक्षापन्हुति दोऊ, जहाँ कीजिये एक,
तहाँ अपन्हव-चातुरी, कह 'रसाल' सविवेक।

—❀—

अन्योक्तिः— जहाँ अप्रस्तुत का कथन करके प्रस्तुत का बोध काराया जाये। इसमें कोई बात कही तो किसी विशेष व्यक्ति पर जाती है किन्तु वह डाली विशेष व्यक्ति को जाती है।

"को छूट्यो यहि जाल परि, कत कुरंग अकुलाय।
ज्यौं ज्यौं सुरभि भज्यो चहै, त्यौं त्यौं अरुझत जाय॥"

× ×

यहाँ बात तो देखने में कही जा रही है मृग के लिये किन्तु वह है वस्तुतः जगत जाल में पड़े हुये किसी भी व्यक्ति के लिये। इसे गूढ़ोक्ति भी कहते हैं।

अप्रस्तुत के कथन सों, प्रस्तुत को जहँ बाध,
तहँ अन्योक्ति बखानिये, कह 'रसाल' करि सोध।

—❀—

दृष्टान्तः— जहाँ उपमेय और उपमान सम्बन्धी दो वाक्यों की धर्म भिन्नता पर भी समानता विम्ब-प्रतिविम्ब भाव से हो। जैसेः—

कुलहिं प्रकासै एक सुत, नहिं अनेक सुत निन्द।
एक चन्द सब तम हरै, नहिं उड़गन के वृन्द।

× ×

यहाँ प्रथम वाक्य उपमेय है और द्वितीय उपमान है। इसमें एक का भाव दूसरे में प्रतिविम्बित है।

नोटः— इसमें उदाहरण के समान उपमेय वाक्य की ओर कवि का लक्ष्य नहीं किन्तु उपमान वाक्य की ओर होता है।

उपमेयऽरू उपमान में, जहाँ बिम्ब-प्रतिबिम्ब,
भेदहु पै सम करिय जहँ, दृष्टान्तहि अविलम्ब।

—❀—

सन्देहः— जहाँ किसी वस्तु का यथार्थ ज्ञान न हो और उसके सदृश अन्य वस्तुओं की प्रतीति सी होकर संशय रहे। इसके दो रूप हैं। प्रथम जहाँ भेद सूचक गुण का संदिग्ध कथन हो। कभी सन्देह के मध्य में और कभी आदि में और कभी अंत में निश्चय-ज्ञान रहता है। यह उक्तभेदोक्ति है। दूसरा जिसमें भेद सूचक गुण न कहा जाय। जैसेः—

की तुम तीन देव मँह कोऊ।
नर - नारायन की तुम दोऊ।

× ×

यहाँ राम के प्रति निश्चयात्मक-ज्ञान नहीं और उनमें त्रदेवों में से किसी एक अथवा नर-नारायण की प्रतीत होती है। इसके वाचकपद प्रायः धौं, किधौं, कै, की, अथवा, या तो इत्यादि हैं।

अन्य वस्तु में होय जहँ, अन्य वस्तु को ज्ञान ,
निश्चय बिना प्रतीति जहँ, तहँ संदेह बखान ।

—❀—

काव्यलिंगः— जहाँ किसी कथित बात को चातुर्य पूर्ण युक्ति के साथ चमत्कृत ढंग से पुष्ट किया जाये ।

"अजहुँ हसौं हैं बाम कछु, दीख परत मुख मीठ ।
चौका-चमकनि-चौंध महिं, परत चौंध सी दीठ ।"

× ×

अर्थापत्तिः—अर्थापत्ति वहाँ होता है जहाँ यह कहते हुये कथन किया जाता है कि जब यह बात हो गई तब यह बात क्या है ।—

"कहा और को जीतिबो, जब जीत्यो जग-नाथ ।
धनि धनि मदन महीप तुम, सबै तिहारे हाथ ।"

× ×

अर्थात् जब संसार के स्वामी को तुमने जीत लिया तब और किसी को जीतना क्या है, इसलिये हे मदन ! तुम्हें धन्य है ।

उक्ति-पुष्टि चातुर्य से, काव्यलिंग तहँ जान ।
भयो यहै, तब यह कहा, अर्थापत्ति बखान ।

—❀—

स्वभावोक्तिः— जहाँ किसी वस्तु का नितान्त स्वाभाविक अथवा यथातथ्य वर्णन हो । जैसे—

मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी,
इती बेर मोहिं दूध पियत भइ, या अजहूँ है छोटी।"

× ×

गुन-कर्मादि स्वभाव ज्यों, कथन त्यों जहाँ होय,
स्वभावोक्ति भूषन तहाँ, कह 'रसाल' सब कोय।

—❀—

समासोक्तिः— जहाँ अप्रस्तुत का वर्णन भी प्रस्तुत के वर्णन में हो। जैसे—

"सनि कज्जल चख झख लगन, उपज्यो सुदिन सनेह।
क्यों न नृपति ह्वै भोगवै, लहि सुदेस सब देह।"

× ×

यहाँ प्रस्तुत से अप्रस्तुत का भी बोध हो रहा है।

अप्रस्तुत हू को कथन, प्रस्तुत मैं जहँ होय।
समासोक्ति भूषन भलो, है 'रसाल' कवि सोय।

—❀—

अप्रस्तुत प्रशंसाः— के दो मुख्य भेद हैं।

(१)— प्रथम वह है जिसमें अप्रस्तुत का वर्णन ऐसा हो कि उससे प्रस्तुत का भी बोध हो। जैसे—

"दीपति है दीपति हमारी दीप-दीप हम,
प्रेम के प्रदीप बात तीखी सहते नहीं।"

× ×

यहाँ प्रत्यक्ष में तो प्रेम-दीपक (अप्रस्तुत) का कथन हुआ है किन्तु उससे एक प्रतिभावान व्यक्ति का भी बोध होता है ।

(२) दूसरा रूप वहाँ होता है जहाँ प्रस्तुत को अप्रस्तुत में प्रस्तुत दिखाया जाये ।—

"धन्य आपका त्याग, धन्य अनुराग आपका ।"

× ×

अप्रस्तुत में होय जहँ, प्रस्तुतार्थ को भान,
अप्रस्तुत में राखिये, प्रस्तुत हू को आन।

—※—

व्याज-स्तुति और व्याज-निन्दा— जहाँ किसी वस्तु की निन्दा करते हुये स्तुति की जाये । निन्दा तो केवल एक व्याज मात्र हो । इसी प्रकार इसका दूसरा रूप वहाँ होता है जहाँ स्तुति के बहाने से निन्दा की जाती है ।

पापी एक जात हुतौ गङ्गा के अन्हाइबे कौ,
तासौं कहै कोऊ एक अधम अयान मैं।
जाहु जनि पंथी, उत विपति विशेषि होति,
मिलैगो महान कालकूट खान-पान मैं।
कहै 'पदमाकर' भुजंगन बँधैंगे अंग,
संग में सुभारी भूत चलैंगे मसान मैं।
कमर कसैंगे गज-खाल तत्काल, बिन,
अम्बर फिरैगो तू दिगंबर दिसान मैं।

× ×

यहाँ नहाने वालों को विष खाने को मिलेगा कहते हुये गङ्गा की निन्दा की गई है, वह महादेव के समान बना देगी यह स्तुति की गई है।

निन्दा सों स्तुति होय कै, स्तुति सों निन्दा होय,
ब्याज-स्तुति, निन्दा तहाँ, कह 'रसाल' सब कोय।

—❀—

अर्थान्तरन्यास— जहाँ अप्रस्तुत अर्थ के द्वारा किसी प्रस्तुत अर्थ का समर्थन किया जाता है। अर्थान्तरन्यास शब्द का अर्थ ही प्रकट करता है कि इसमें 'अन्य' अर्थ अथवा अर्थान्तर का न्यास किया जाता है। 'न्यास' का अर्थ है 'रखना'। तात्पर्य यह है कि किसी एक अर्थ का समर्थन करने के लिये कोई दूसरी बात कही जाती है। जैसे:—

"कारज ते कारन कठिन, होय दोष नहीं मोर।
कुलिष, अस्थि ते उपल ते, लोह कराल कठोर॥"

× ×

यहाँ कार्य का कारण से कठिन होना मुख्य अभीष्टार्थ है। इसके समर्थन के लिये द्वितीय पंक्ति में वज्र का अस्थि से और लोह का पत्थर से अधिक कठोर होना कहा गया है। अभीष्टार्थ के सामान्य और विशेष दो प्रकार हो सकते हैं और इसी भाँति विशेष और सामान्य अर्थ का समर्थन किया जाता है जिससे उनके दो अर्थ हो जाते हैं।

प्रस्तुतार्थ-पोषन जहँ, अप्रस्तुत सों होय,
अर्थान्तर न्यासहि तहाँ, कह 'रसाल' कवि सोय।

—❀—

तुल्ययोगिताः— इसके तीन मुख्य रूप हैं।

(१) प्रथम वहाँ होता है जहाँ मित्र और शत्रु में सम व्यवहार प्रकट हो। जैसे—

"आवत जिते रसाल ढिग, सुफल लहत बिन भेद।
हित, अनहित को भेद नहिं, रसिक हृदय नहिं खेद।

× ×

यहाँ आम के वृक्ष का किसी को शत्रु या मित्र न मानकर सबको समान रूप से फल देना कहा गया है।

(२) द्वितीय रूप वहाँ होता है जहाँ कतिपय उपमेयों या उपमानों में एक ही धर्म दिखलाया जाये। जैसे—

"सुजन, कमल, मलयज, सुतरु, सरसत सतत सुबास।"

× ×

यहाँ सज्जन, कमल, चंदन सब में सुबास का एक ही धर्म कहा गया है।

(३) तीसरा रूप वहाँ कहा गया है जहाँ भिन्न भिन्न गुणों का एक ही धर्म कहा जाये। जैसे—

"हे प्रभु! आप हैं बन्धु, पिता अरु स्वामी सखा, सब ही कुछ मेरे।"

× ×

सखा-सत्रु सम करिय कै, वर्न्यावर्न्य गुनैक,
तुल्ययोगिता धरम बहु, गुन हू कीजै एक।

—❀—

दीपकः— जहाँ उपमान और उपमेय अथवा प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों का एक ही धर्म कहा जाय। जैसे—

"बुध जन सफल रसाल दोउ, रहत नम्रता पाय।
दीपक से दीपत दोउ, सुखी करत सुख पाय।"

× ×

यहाँ बुद्धिमान पंडित और आम का वृक्ष जो उपमेय और उपमान हैं, नम्रता के एक ही धर्म से तुलित हुये हैं।

वर्न्यावर्न्य सुधर्म इक, दीपक करत बखान,
एकहि कै विविधार्थ युत, धरिय क्रियापद आन।

× ×

आवृत्ति दीपकः— दीपक का दूसरा भेद है। इसमें क्रिया-पदों की आवृत्ति की जाती है। इसके तीन रूप होते हैं—

१— पदावृत्तिः— जिसमें पृथक पृथक अर्थ वाले एक ही क्रिया-पदों की आवृत्ति हो। जैसे—

"पवन बहत सीतल, सुखद, बहत सुरसरी नीर।
रसिक उमंग तरंग में, बहत लहत सुसमीर।"

× ×

यहाँ बहुत से क्रिया-पदों की आवृत्ति है और इसके अर्थ भी भिन्न भिन्न हैं।

२— अर्थावृत्ति— जहाँ एक ही अर्थ वाले भिन्न भिन्न क्रिया-पद हों। जैसे—

"पय-पयोधि तजि अवध बिहाई।
जहँ सिय-राम-लखन रहे आई।"

× ×

यहाँ 'बिहाई' और 'तजि' दो भिन्न क्रिया-पद हैं, किन्तु दोनों का अर्थ एक ही है।

३— पदार्थावृत्तिः— जहाँ एक ही क्रिया-पद का एक ही अर्थ में कई बार प्रयोग हो। जैसे—

चूर कियो नृप-मद सकल, चूर कियो सिव-चाप।
जय समेत लहि सीय प्रभु, प्रगट्यो प्रबल प्रताप॥

× ×

यहाँ 'चूर कियो' क्रिया-पद की आवृत्ति है और एक ही अर्थ में।

नोटः— (अ) पदावृत्ति और यमक में यह अन्तर है कि पदावृत्ति दीपक में तात्पर्यान्तर तो रहता है किन्तु अर्थान्तर नहीं रहता। यमक में भी यही बात होती है किन्तु यमक में क्रिया ही पद की आवृत्ति नहीं होती।

(ब) बहुधा क्रिया-पदों के अतिरिक्त अन्य संज्ञादि पदों की आवृत्ति पर भी यह अलंकार माना जाता है।

कारक दीपकः— जहाँ एक ही वस्तु में अनेक भाव यथाक्रम प्रकट हों। जैसे—

"रामहिं देखत हरष हिय, चाप देखि कुम्हिलाय।"

× ×

यहाँ राम और चाप को देखकर एक ही हृदय में दो भाव उत्पन्न हो रहे हैं।

जहाँ एक ही क्रिया के अनेक कर्त्ता और अनेक क्रियाओं का एक कर्त्ता होता है वहाँ भी यह माना जाता है। जैसे:—

"हँसति, खिझति, रीझति, खरी, नटति, लजति चलि जाति।"

× ×

यहाँ एक ही कर्त्ता नटति आदि कई क्रियाओं से सम्बन्ध रखता है।

जहँ पदार्थ पुनरुक्ति कै, कर्ता क्रिया अनेक,
दीपक के ये भेद कछु, कह 'रसाल' सविवेक।

× ×

इसी प्रकार—

"कोकिल मोर चकोर सब, चहक उठे तत्काल।"

× ×

यहाँ कोकिल, मोर, चकोर तीन कर्त्ता और उनकी 'चहक उठे' एक ही क्रिया है।

—❀—

स्मरण-अलङ्कार:— जहाँ किसी वस्तु से तत्सम्बधी या किसी अन्य वस्तु का ध्यान आ जाय। जैसे:—

लखि सरसिज राधा-सुधि आई।

× ×

यहाँ कमल को देखकर उसके उपमेय का ध्यान हुआ है।

नोट:— कभी सादृश्य से, कभी साम्य और कभी वैषम्य से अथवा कभी किसी बात, लक्षण, चित्र या स्मृति आदि से किसी वस्तु का स्मरण होता है। स्मृति संचारी से इसे सहायता मिलती अथवा इसकी पुष्टि होती है। साथ ही इसमें एक वस्तु पर तत्सदृश दूसरी वस्तु का आरोपण निश्चय ज्ञान से होता है। भ्रम में सत्य ज्ञान के स्थान पर असत्य ज्ञान का निश्चय होता है। रूपक में अभेद के साथ आरोप होता है।

समता लखि जहँ होत है, अन्य वस्तु को ध्यान,
तहाँ स्मरण भूषन भलो, कहत 'रसाल' प्रमान।

—❀—

भ्रमः— जहाँ किसी वस्तु को देख कर उसमें तत्सदृश अन्य वस्तु का निश्चयात्मक-ज्ञान हो। जैसेः—

विधु-बदनिहिं लखि बाग में,
चहकन लगे चकोर।

× ×

यहाँ चन्द्रमुखी के मुख को देखकर चकोरों को चन्द्र का भ्रम है, क्योंकि दोनों में साम्य है। यद्यपि मुख-चन्द्र नहीं है, चकोरों को असत्य-ज्ञान है, किन्तु उस असत्-ज्ञान में उनका पूर्ण निश्चय है।

सदृश वस्तु में अन्य की, निहचय होति प्रतीति,
भ्रम भूषन की कहत है, यों 'रसाल' कवि रीति।

—❀—

प्रतिवस्तूपमाः—जहाँ उपमेय और उपमान सम्बन्धी वाक्यों में एक अथवा समान अर्थ-सूचक शब्दों से एक ही या समान धर्म कहा जाय। जैसेः—

तिनहिं सुहात न अवध-बधावा।
चोरहिं चाँदिनि रात न भावा।

× ×

यहाँ प्रथम और द्वितीय दोनों वाक्यों में रुचिकर न होने का भाव या धर्म सुहात न, और न भावा दो भिन्न पदों से व्यक्त हुआ है।

वर्न्यावर्न्यन मैं जहाँ एकै धरम समान,
प्रति वस्तु पम में रहैं, पद एकार्थ विधान।

× ×

नोटः— प्रथम शब्दों से एक धर्म-कथन को वस्तु-प्रति वस्तु भाव होता है कभी कभी इसमें वैधर्म भाव भी रहता है और विरोधी शब्दों से एक धर्म का कथन होता है। बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव से एक धर्म का कथन दृष्टान्त में होता है।

—❀—

विशेषोक्तिः— यह भी एक प्रकार से विभावना का ही एक रूप है और कार्य-कारण से सम्बन्ध रखता है। जहाँ कारण के रहते हुये भी कार्य नहीं होता वहाँ विशेषोक्ति अलंकार कहा जाता है। जैसे—

"कर कुठार मैं अकरुण कोही, आगे अपराधी गुरु-द्रोही।
बहै न बाहु, दहै रिस छाती, भा कुठार कुंठित नृप-घाती॥"

× ×

इस प्रसंग में क्रोध-पात्र लक्ष्मण सामने हैं, क्रोध है, कुठार है, फिर भी मारने का कार्य नहीं होता।

हेतु होतहू काज नहिं, बिशेषोक्ति तहँ जान,
मुख्य मुख्य भूषन इते, कहे 'रसाल' बखान।

—❀—

कवि जब कुछ कहता है तब प्रायः कई अलंकार स्वतः मिलकर एक साथ आ जाते हैं।

इस प्रकार दो या अधिक अलंकारों को मिलाने से जो मिश्रित अलंकार होते हैं उनके दो भेद हैं।

संकर और संसृष्टि।

संकरः— जहाँ दो या दो से अधिक अलंकार होते हैं वहाँ संकर अलंकार होता है। इसके तीन भेद हैं—

(१) **अंगांगीभावः**— जिसमें एक अलंकार अंगी और सब अंग से होते हैं और वे उससे उत्पन्न हुये से प्रतीत होते हैं।—

रावण-सिर-सरोज-बनचारी। चलि रघुबीर-सिलीमुख धारी।

× ×

इसमें रूपक और श्लेष दोनों अंगांगी रूप में मिले हुए हैं।

(२) संदेह संकर:— जहाँ मिले हुये दो अलंकारों में से किसी का भी निश्चय न हो और संदेह बना रहे। जैसे—

रहिमन कबहुँ बड़ेन के, नहीं गरब को लेष।
भार धरत संसार को, कह्यो जात तऊ शेष॥

× ×

इसमें विशेषोक्ति अथवा दृष्टांत में से क्या है, यह संदेह बना रहता है।

(३) तीसरा रूप वह है जहाँ एक ही पद में कई अलंकार होते हैं। जैसे—

जो प्रभु अवसि पार गा चहहू, मोहिं पद-पद्म पखारन कहहू।

—❀—

(१) संसृष्टि:— (शब्दालंकारों के साथ) इसमें दो या अधिक अलंकार तिल-तंदुल से मिले रहते हैं। इसका प्रथम रूप वह है जहाँ दो या अधिक शब्दालंकार मिले हों। जैसे:—

उझकि उझकि पद-कंजनि के पंजनि पै,
पेखि पेखि पाती छाती छोहनि छवै लगी।

× ×

इसमें वीप्सा, एवं वृत्यनुप्रास मिले हैं।

(२) दूसरा रूप वहाँ होते हैं जहाँ दो या अधिक अलंकार पृथक पृथक जान पड़े। जैसे—

बिन घनस्याम धाम-धाम ब्रज-मंडल में,
ऊधो नित बसति बहार बरषा की है।

× ×

(३) शब्दार्थलंकारः— जहाँ शब्द और अर्थ सम्बन्धी दोनों प्रकार के अलंकार मिले हों, वहाँ यह रूप होता है। जैसे—

खेलन सिखये अलि भले, चतुर अहोरी मार ,
काननचारी नैन-मृग, नागर नरन सिकार।

× ×

इसमें अनुप्रास और रूपक, विरोधाभास आदि शब्द और अर्थ सम्बन्धी दोनों अलंकार मिले हैं।

तिल-तंदुल, पय छीर सम, भूषन मिलैं अनेक ,
तहँ संकर, संसृष्टि कौ, बहुत 'रसाल' विवेक।

अध्याय ६

छन्द-निरूपण

कहा जा चुका है कि काव्य के रचना-रीति के आधार पर दो रूप हैं (१) गद्य काव्य और (२) पद्य काव्य। कविता शब्द प्रायः पद्यात्मक काव्य-रचना के अर्थ में आता है।

संगीतात्मक-लय या पाठ-प्रवाह-गति से युक्त गद्य के विशेष व्यवस्थित रूप को पद्य कहते हैं। पद्य में संगीत-माधुर्य्य और पाठ-सौन्दर्य के होने से काव्य प्रायः पद्यात्मक ही रक्खा जाता है।

पद्य-शब्द के स्थान पर छन्द-शब्द का भी प्रयोग प्रायः किया जाता है, यद्यपि दोनों में अन्तर यह है कि पद्य में भाव वैसा छिपा कर नहीं रक्खा जाता जैसा छन्द में। छन्द से तात्पर्य छिपाने का भी है, इस लिये:—

छन्द :—पद्य का वह व्यवस्थित रूप है जिसमें भाव-प्रकाशक शब्द मात्राओं और वर्णों की निश्चित संख्या के साथ ऐसे संगठित किये जाते हैं कि भाव व्यक्त होता हुआ भी अव्यक्त सा रहता है और कुछ प्रयत्न से स्पष्ट होता है। संगीतात्मक-लय इसकी रुचिरता और रोचकता को बढ़ा देती है।

गद्य-गत शब्द-व्यवस्था के सदृश छन्द में शब्द-व्यवस्था नहीं रहती क्योंकि इसमें गेयता आवश्यक होती है। अर्थ को स्पष्ट करने के लिये

छन्द-गत शब्दों को गद्योचित ढंग पर रक्खा जाता है। इसे अन्वय करण कहते हैं।

छन्द-शास्त्र :—वह शास्त्र या विज्ञान है जिसमें छन्दों की रचना-विधि या उनके भेदो पभेद आदि का शास्त्रीय-विवेचन होता है। इसके प्रथम प्रधान प्रवर्तक पिङ्गलाचार्य थे।

भेद :—छन्दों के मुख्य दो भेद हैं (१) **वर्णिक**:— जिसकी रचना में वर्णों की संख्या का क्रम और स्थान आदि नियम-मियंत्रित रहता है। इसके दो भेद हैं:— (क) **गणात्मक** :— जो गण-व्यवस्था पर आधारित हो (ख) **अगणात्मक**— जो वर्ण-संख्या पर ही आधारित हो,

(२) **मात्रिक**:— जिसमें वर्ण-गणना पर ध्यान न देकर उनकी मात्राओं की संख्या पर ही विचार किया जाता है।

नोटः— छन्द के दो भेद और हैं। (१) **वैदिक**:— जिनका उपयोग केवल वेदों में होता है। (२) **लौकिक** या **साहित्यिक** :— जिनका उपयोग साहित्य या काव्य में होता हैं। वैदिक-छन्दों का विवेचन वैदिक-प्रक्रिया में पृथक है।

गणात्मक-वर्णिक-छन्दों में मात्राओं की गणना भी निश्चित रहती है। मात्रिक-छन्दों में वर्णों की संख्या निश्चित नहीं की जा सकती, यही इन दोनों में अन्तर है। स्कृत में वर्णिक-वृत्तों की और हिन्दी में मात्रिक-छन्दों की अधिकता है। स्मरण रहे कि गणात्मक-वर्णिक छन्द को वृत्त कहते हैं। हिन्दी में कुछ मनहरण जैसे वर्णिक छन्द और कुछ थोडे वर्णिक-वृत्तों का भी प्रयोग हुआ है।

गुरु-लघु-विचार :— स्वरों के दो भेद हैं :—

(१) **लघु-स्वर**:— वह हैं जिसके उच्चारण में एक मात्रा (समय की एक इकाई) लगती है। ऐसे स्वर तीन हैः— अ, इ, उ।

दीर्घ या गुरु-स्वर:— वह है जिसके बोलने में दो मात्राएँ लगती हैं। लघु-स्वरों को छोड़ कर शेष सब स्वर दीर्घ हैं। लघु-स्वरों से युक्त वर्ण लघु और दीर्घ-स्वरों से युक्त वर्ण दीर्घ होंते हैं। दीर्घ वर्ण के उचा-

रण में लघु की अपेक्षा दूना श्रम और समय लगता है। इसलिए इनमें दो मात्रायें मानी जाती हैं।

स्वर-रहित अथवा हलन्त वर्ण में आधी मात्रा और प्लुत-स्वर में, जिसका प्रयोग हिन्दी में नहीं होता, तीन मात्रायें मानी जाती हैं। संयुक्त-वर्ण से पूर्व का वर्ण तथा छन्द का चरणान्त वर्ण लघु होता हुआ भी दीर्घ माना जाता है। इसी प्रकार अनुस्वार-युक्त और विसर्ग-युक्त-वर्ण भी दीर्घ माने जाते हैं। जिन-संयुक्त वर्णों का उच्चारण द्वित्व या दोहरे रूप में होता है उनसे भी पूर्व का वर्ण दीर्घ माना जाता है अन्यथा नहीं। कभी ऋ स्वर-युक्त कुछ वर्ण द्वित्व रूप में पढ़े जाकर अपने शब्द का कभी अर्थ बदल देते हैं। जैसे:— अमृत में मृ को द्वित्व रूप में पढ़ने से सुधा का अर्थ होगा और यह संज्ञा-पद होगा अन्यथा विशेषण पद होकर न मरे हुए का अर्थ देगा।

गण-विचार:— गणात्मक-वर्णिक-छन्दों में गण-व्यवस्था अनिवार्य है। तीन वर्णों के समुदाय को गण कहते हैं। इन तीन वर्णों के प्रस्तार में लघु और दीर्घ के विचार से ८ रूप होते हैं:—

(१) मगण—ऽऽऽ	जाता था।	
(२) नगण—।।।	सजल।	शुभ-गण
(३) भगण—ऽ।।	शारद।	
(४) यगण—।ऽऽ	निराला।	

× × ×

(५) जगण—।ऽ।	विशाल।	
(६) रगण—ऽ।ऽ	कामता।	अशुभ-गण
(७) सगण—।।ऽ	सजनी।	
(८) तगण—ऽऽ।	शैलेन्द्र।	

गणों के लिए याद रक्खोः—

आदि, मध्य, अवसान मैं, य, र, ता में लघु होय।
भ, ज, सा, में गुरु जानिये, म, न गुरु-लघु सब जोय।
म, न, भ, य, ये शुभ जानिये, ज, र, स, त अशुभ विचार।
कवित आदि वे दीजिये, ये न दीजिये चार।

× ×

छन्द-गत गण-गणना आदि वर्ण से ही होती है। अन्तिम वर्ण यदि बच रहें तो गुरु-लघु जैसे भी वे हुए गण-रहित रहते हैं। देवतावाची या मङ्गलवाची शब्दों या वर्णों वाला अशुभ-गण भी निर्दोष माना जाता है।

झ, ह, र, भ, ख अशुभ-दग्धाक्षर कहे जाते हैं और काव्य की आदि में त्याज्य हैं। किन्तु दीर्घ होकर यही निर्दोष होते हैं। दग्धाक्षर और अशुभ गण का विचार प्रत्येक मुक्तक छन्द में और प्रबन्ध-काव्य के आरम्भिक-छन्द में किया जाता है।

गति या पाठ-प्रवाह :— छन्द में एक प्रकार की अपनी लय या गति होती है, यदि वह ठीक नहीं तो **गति-भंग** दोष होकर छन्द दूषित हो जाता है। मात्रिक छन्दों में तो गति का पूरा विचार करना पड़ता है, किन्तु वर्णिक-वृत्तों में गण-विधान से गति स्वतः ठीक रहती है। जैसेः—

राम - कथा सुन्दर कर तारी।

× ×

यह सोलह मात्राओं का चौपाई नामक मात्रिक-छन्द है, किन्तु यदि इसके शब्दों में हेर-फेर कर दें तो गति-दोष आकर यह चोपाई छन्द न रहेगा। जैसेः—

सुन्दर करतारी कथा राम।
× ×

यतिः— प्रत्येक बड़े छन्द में कुछ वर्णों या मात्राओं के पश्चात् कुछ स्थान रुकने के लिए निश्चित रहता है, इसी को विराम या यति कहते हैं। इसके कारण नाद-यंत्र और स्वास की गति को सुविधा होती है और रसना को कुछ विश्राम सा मिल जाता है। यति के निश्चित स्थान पर न होने से **यति-भंग-दोष** माना जाता है। मुख्य नियम इसके यों हैं:—

(१) यति पर शब्द-भंग न हो (२) यति पर शब्द कारक की विभक्तियों से पृथक न हो (३) क्रियाएँ यति पर ऐसी भंग न हों कि अनर्थ की आशंका हो।

यति के विचार से भी छन्द दो प्रकार के हैं (१) यत्यात्मकः— जिनमें यति के निश्चित नियम हों और (२) अयत्यात्मकः— जिनमें यति का नियम न हो।

चरणः—छन्द के एक अंश या भाग को चरण या पाद कहते हैं। प्रयेक चरण पर प्रायः पूर्ण विराम सा रहता है और प्रत्येक छन्द में चार चरण होते हैं। यति पर जितने समय में १ कहा जा सके उतने समय तक ठहरना चाहिए। पूर्ण-यति या चरणान्त पर २ कहे जाने के समय तक रुकना चाहिये। छन्दान्त में इसका कोई नियम नहीं।

छन्दों के तीन भेद और हैं।

(१) **समः**— जिसमें वर्णों या मात्राओं की संख्या चारों चरणों में समान हो। जैसेः— चौपाई।

(२) **अर्ध समः**— जिसमें वर्णों और मात्राओं की समानता

प्रथम और तृतीय-चरण तथा द्वितीय और चतुर्थ चरण में हो। जैसेः—
दोहा।

(३) विषमः—जिसमें मात्राओं या वर्णों की संख्या चारों पदों में विषम हो।

इसी प्रकार सम-छन्दों के दो भेद हैंः—

(१) साधारणः— जिसमें ३६ मात्रायें या २६ वर्ण तक हों।

(२) दण्डकः— जिसमें साधारण सम-छन्द से अधिक वर्ण या मात्रायें हों।

छन्द्-नियम

छन्दों की संख्या अनन्त है। छन्द-शास्त्र में केवल वे ही छन्द दिये गये हैं जो श्रुति-सुखद और साहित्य में प्रचलित हैं, उनमें से भी कुछ बहुत ही ललित और सुगेय हैं। यहाँ उनमें से भी कुछ अति प्रचलित और साधारण-छन्द दिये जाते हैं।

—⁂—

द्रुतविलंबित— १२ वर्णों का छंद है, जिसमें नगण, भगण भगण और रगण ४ गण रहते हैं। जैसे—

दिवस का अवसान समीप था।
गगन था कुछ लोहित हो चला।
तरु-शिखा पर थी अब राजती।
कमलिनी-कुल-वल्लभ की प्रभा॥

—⁂—

मालिनी— १५ वर्णों का ८ और ७ पर विराम के साथ नगण,

नगण मगण, यगण और यगण से युक्त मालिनी छंद होता है। अंतिम वर्ण लघु भी रह सकता है। जैसे—

न न म य य मिला के, मालिनी को बनाओ।
फिर सुकवि जनों कें, कंठ में ले पिन्हाओ।
अति ललित रसीला, मालिनी छंद जैसा।
रुचि रुचिकर देखो, छंद है कौन वैसा॥

—❀—

वंशस्थः—जगण, तगण जगण और रगण के साथ बारह वर्णों का छन्द है।

मुकुन्द चाहे यदुवंश के बने,
रहें सदा या वह गोप-वंश के।
न तो सकेंगे ब्रज-भूमि भूल वे,
न भूल देगी ब्रज-मेदनी उन्हें।

—❀—

मन्दाक्रान्ता— १७ वर्णों का १० और ७ वर्णों पर यति के साथ मगण, भगण, नगण, तगण, तगण ५ गणों और दो वर्णों वाला मन्दाक्रान्ता छंद भी ललित छन्द है। कालिदास ने इसी छंद में अपना सारा 'मेघदूत' लिखा है। जैसे—

जाते जाते गगन पथ में, किन्नरी गामनो में।
भूलोगे क्या भवन-बलभी, तुंग वातायनो में।
जाना जैसे त्वरित पथ में, रात भी हो न जाये।
आशा सारी सुखद उसकी, नाश भी हो न पाये।

—❀—

बसंततिलकाः—तगण, भगण, जगण, जगण और अन्त में दो गुरु वर्णों के साथ चौदह वर्णों का छन्द है। जैसेः—

हे चारु चन्द्र ! नभ-मंडल के विहारी ।
चालें भली कुछ कदापि नहीं तुम्हारी ।
देते बड़ा दुख सदा तुम कोक को हो ।
उद्दीप्त नित्त करते तुम शोक को हो ।

—❀—

इन्द्रवज्रा:—तगण, तगण, जगण तथा अन्तिम दो गुरु वर्णों के साथ ग्यारह वर्णों का छन्द है । जैसे:—

संसार है एक महाब्धि खारा ।
यहाँ यही देह जहाज न्यारा ।
जो धर्म का पाल न पास होगा ।
कैसे महासागर पार होगा ।

—❀—

शार्दूलाविक्रीड़ित— यह छंद १६ वर्णों का होता हैं । मगण, सगण, जगण, सगण, तगण, तगण और अन्त में दीर्घ वर्ण होता है । इसमें १२ और ७ वर्णों पर विराम रहता है—

काले कुत्सित कीट का कुसुम में, कोई नहीं काम था ।
काँटे से कमनीयता कमल में, क्या है न कोई कमी ?
दण्डों में कब ईख के विपुलता, है ग्रन्थियों की भली ।
हा ! दुर्दैव प्रगल्भते ! अपटुता तूने कहाँ की नहीं ।

—❀—

उपेन्द्र वज्रा:— जगण, तगण, जगण तथा अन्त में दो गुरु वर्णों के साथ पाँच और छै अक्षरों पर विराम दे कर ११ वर्णों के साथ चलता है । जैसे:—

बड़ा कि छोटा कुछ काम कीजै ।
परन्तु पूर्वापर सोच लीजै ।
बिना विचारे यदि काम होगा ।
कभी न अच्छा परिणाम होगा ॥

—❀—

सुमुखीः— सात जगण के बाद एक लघु और एक दीर्घ के साथ तेईस वर्णों का छन्द है । ग्यारह और बारह वर्णों पर विराम रहता है । इसे मल्लिका या मालिनी भी कहते हैं । जैसेः—

हिये बन माल रसाल धरे, सिर मोर किरीट महा लसिबौ ।
कसे कटि पीत पटी लकुटी, कर आनन पै मुरली बसिबौ ।
कलिन्दिनि-तीर खड़े बलबीर, सुबालन की गहि बाँह कबौ ।
सदा हमरे हिय मंदिर मैं, यहि वानिक सौं करियै बसिबौ ।

—❀—

सुन्दरीः—आठ सगण और एक गुरु वर्ण के साथ पचीस वर्णों का छन्द है । इसमें बारह और तेरह वर्णों पर विराम रहता है ।

हम दीन-दरिद्र हुतासन में, दिन रात पड़े दहते रहते हैं ।
बिन मेल विरोध महानद में, मन बोहित से बहते रहते हैं ।
कवि शंकर काल-कुशासन की फटकार कड़ी सहते रहते हैं ।
पर भारत के गत गौरव की, अनुभूत कथा कहते रहते हैं ।

—❀—

मनहरणः—सोलह और पंद्रह वर्णों पर विराम के साथ गति चारुता के लिए अन्त में गुरु वर्ण रखते हुए इकतीस वर्ण का छन्द है । जैसेः—

भेजे मन भावन के ऊधव के आवन की,
सुधि ब्रज-गाँवन मैं पावन जबै लगीं।
कहै 'रतनाकर' गुवारिनि की झौरि झौरि,
दौरि दौरि नन्द-पौरि आवनि तबै लगीं।
उझकि उझकि पद-कंजनि के पंजनि पैं,
पेखि पेखि पाती छाती छोहनि छबै लगीं।
हमकौं लिख्यो है कहा, हमकौं लिख्यो है कहा,
हमकौं लिख्यो है कहा, कहनि सबै लगीं।

× ×

नोटः—इसे कवित या घनाच्चरी भी कहते हैं। यदि सब वर्ण इसमें लघु रक्खे जायें तो **अमत्ता**-छन्द होता है। यदि सब वर्ण दीर्घ रहें तो छन्द न बनेगा, इसलिए इसकी गति पर विशेष ध्यान रक्खा जाता है। इसकी दो प्रकार की गतियाँ हैं। प्रथम है **सत्वर-गति** और दूसरी है **मन्थर-गति**, प्रथम को घनाच्चरी और दूसरे को **कवित्त** कहते हैं।

—❀—

घनाच्चरी के दो भेद हैं—(१) रूपघनाच्चरी और दूसरा देव-घनाच्चरी।

रूप-घनाच्चरीः— घनाच्चरी या कवित्त के अंत में एक लघु-वर्ण के और रख देने से १६ और १६ वर्णों पर यति हो जाने से ३२ वर्णों का यह छंद होता है। जैसे:—

छन छन कै जतन देखहिं समाज तन,
हेरहिं न विधवा छटूक होत छतियान।
जाति को पतन अवलोकहिं न आतुर ह्वै,
भूलि ना विलोकहिं कछू न होत कुल-मान।

'हरिऔध' छिनत लखहिं न सलोने लाल,
लुटत निहारहिं न लोनी लोनी ललनान।
खोले ना खुली पै ये कहाँ हैं ठीक ठीक खुली,
अधखुली अजौं ना हमारी खुली अँखियान।

—❀—

देव-घनाक्षरी:—रूप घनाक्षरी के अन्त में एक लघु वर्ण और बढ़ाने से अथवा अंत में तीन लघु वर्णों बनता को रखने से आठ, आठ, आठ और नौ पर विराम रखने से तैंतीस वर्ण का यह छंद बनता है। जैसे:—

झिल्ली झनकारैं, पिक-चातक पुकारैं बन,
मोरनि गुहारैं, उठै जुगुनू चमकि चमकि।
घोर घन कारे, धारे धुरवा धुधाँरे धाम,
धूमनि मचावैं, नाचैं दामिनि दमकि दमकि।
झूकनि बहै बयारि, लूक न लगावै अङ्ग,
हूकनि भभूकनि की उर मैं खमकि खमकि।
राखौं प्रान कैसे करि प्यारे जसवन्त विनु,
नान्हीं नान्हीं बूँद झरै मघवा झमकि झमकि।

× ×

नोट:— गीत काव्य में कभी कभी गेय छन्दों का भी प्रयोग किया जाता है। ऐसे गीत छन्दात्मक होते हैं। इधर की ओर खड़ी बोली के कुछ कवियों ने कुछ लयात्मक मुक्त छन्दों का भी प्रयोग किया है। साथ ही दो छन्दों को मिलाकर कुछ मिश्रित छन्दों की रचना भी की है। यह परिपाटी प्राचीन भी है।

अध्याय ७

मात्रिक-सम-छन्द

चौपाईः— इसमें १६ मात्राएं होती हैं। चरणान्त में तगण (SSI) या जगण (ISI) न होना चाहिये। अंत में दो गुरु वर्णों के रखने से गति रोचक रहती है। तुलसीदास की चौपाइयाँ अति प्रसिद्ध हैं:—

२+२+१+१+१+१+२+१+१+२+२=१६॥

वन्दौं गुरु-पद-पद्म-परागा।
सुरुचि-सुबास सरस अनुरागा॥

× ×

अमिय-मूरि मय चूरन चारू।
समन सकल भव-रुज-परिवारू।

—❀—

सोरठाः—यह दोहे का उल्टा है, इसलिए इसमें विषम चरणों में ग्यारह और सम चरणों में तेरह मात्राओं के साथ चौबीस मात्रायें रहती हैं। शेष बातें दोहे के समान ही होती हैं। जैसे:—

मूक होहिं बाचालु, पंगु चढ़हिं गिरि-वर गहन।
जासु कृपा सो दयालु, द्रवहु सकल कलि-मल-दहन।

—❀—

चौपाई— अन्त में गुरू और लघु के साथ यह १५ मात्राओं का छंद है। जैसे—

सुमन को मिले रसिक ये भृंग, न जाने मुझे मिलेगा कौवना।

—❀—

हरिगीतिक:— सोलह और बारह मात्राओं पर विराम के साथ अंत में लघु और गुरु वर्ण रखकर अट्ठाइस मात्राओं का छंद है। पाँचवीं, बारहवीं, उन्नीसवीं और छब्बीसवीं मात्रा को लघु रखना इसमें अच्छा है।

कभी कभी तो चौदह और चौदह मात्राओं पर भी इसमें विराम रहता है और कभी-कभी सात और सात मात्राओं पर भी रहता है। चार बार हरिगीतिका शब्द के रखने या कहने से यह छंद बन जाता है। जैसे:—

हरिगीतिका, हरिगीतिका, हरिगीतिका, हरिगीतिका।

× ×

मंगल करनि कलि-मल हरनि, तुलसी कथा रघुनाथ की।

× ×

जय जय जय अखिलेश लेश करुणा से जिसकी।

—❀—

रोला:— ११ और १३ मात्राओं पर विराम के साथ यह २४ मात्राओं का मात्रिक-सम-छंद है। इसे काव्य-छन्द भी कहते हैं। चरणान्त में गुरु रखने से गति अच्छी रहती है, यद्यपि यह कोई निश्चित नियम नहीं। जैसे—

जाके प्रति पद मांहि कला चौबिस गनि राखै ।
गेरह, तेरह पर विराम, रोला कवि भाखै ॥

—❀—

उल्लाला— २६ मात्राओं का १३ और १३ मात्राओं पर विराम के साथ अन्त में गुरू वर्ण रखता हुआ उल्लाला छंद होता है । जैसे—

अविरल होती वृष्टि थी, सृष्टि दृष्टि आती न थी ।
भूरि भयानकता भरी, भूमि भूल भाती न थी ।

—❀—

छप्पय— पहले ४ चरण रोला के रखकर फिर २ चरण उल्लाला के रख छप्पय छंद ६ चरणों का होता है, छः पद इसलिये इसे छप्पय या षट पद कहते हैं । यह मिश्रित छंद है । जैसे—

"कूजत कहुँ कलहँस कहूँ, मज्जत पारावत ।
कहुँ कारण्डव उठत कहूँ, जल छपांय कुक्कुट धावत ।
चक्रवाक कहुँ बसत कहूँ, बक ध्यान लगावत ।
सुक पिक जल कहुँ पियत, कहुँ भ्रमरावलि गावत ।
कहुँ तट पर नाचत मोर, बहु, रोर विविध पंछी करत ।
जल,पान, न्हान कर सुख भरे, तट सोभा सब जिय धरत ।

—❀—

बीर— १६ और १५ मात्राओं पर विराम के साथ ३१ मात्राओं का बीर छंद होता है । अन्तिम वर्ण इसमें लघु ही रहता है । इसे आल्हा छंद भी कहते हैं । कविवर जग-नायक ने अपना 'आल्हा' नामक काव्य ग्रन्थ

इसी छंद में लिखा है। प्रायः वीर रस की रचना के लिये यह अधिक उपयुक्त होता है। इसके पाठ-प्रवाह में ही एक विशेष प्रकार का ओज रहता है। जैसे—

'सुमिरि भवानी जगदंबा को, औ सारद को सीस नवाय।
वीर पँवारा अब मैं गाऊँ, माता कंठ विराजौ आय।
दहिने चौकी है नृसिंह की, बायें अंजनि के हनुमान।
सनमुख चौकी जगदम्बा की, ऊपर छत्र किये भगवान।

—❀—

सरसी—१६ और ११ मात्राओं पर यति के साथ अन्त में एक गुरू रखता हुआ २७ मात्राओं का यह छंद है। अन्त में गुरु और लघु भी हो सकता है। जैसे—

जग में अचर सचर जितने हैं, सारे कर्म निरत हैं।
कर्म-बिना वे भी न कहीं हैं जो संसार-विरत हैं॥

—❀—

सवैय्याः—बाइस वर्णों से लेकर छब्बीस वर्णों तक का छंद है। इसके कई भेद हैं।

नोट :— हिन्दी में बहुधा गुरु को लघु और लघु को कभी गुरु भी पढ़ना पड़ता है, यद्यपि लिखने में ऐसा नहीं होता, इसलिए वर्णों के उच्चारण से गण का विचार करना चाहिए। यह वर्णिक और मात्रिक दोनों प्रकार का छन्द है।

मदिराः— सात भगण (ऽ।।) और एक अंतिम गुरु वर्ण के साथ बाईस वर्णों का सवैय्या छंद है। जैसेः—

सिन्धु तर्यो उनकों बनरा, तुम पै धनु-रेख गई न तरी।
बाँधत बाँधत सो न बँध्यौ, उन वारिधि बाँधि के बाट करी।

श्री रघुनाथ प्रताप की बात, तुम्हैं दसकंठ न जानि परी।
तेलनि-तूलनि पूँछा जरी न जरी गढ़ लंक जराइ जरी।

—❀—

मत्तगयन्द:— सात भगण और अंत में दो गुरु वर्णों के साथ तेइस वर्णों का छंद है। इसे मालती भी कहते हैं। इसमें प्रायः बारह और ग्यारह अथवा ग्यारह और बारह वर्णों पर विराम रहता है। जैसे:—

मानुष होहुँ वही रसखान, बसौं ब्रज गोकुल गाँव के ग्वारन।
जो पसु होहुँ कहा बस मेरो, चरौं नित नंद की धेनु मँझारन।
जो खग होहुँ बसेरो करौं, कल कालिंदी कूल कदंब की डारन।
पाहन होहुँ वही गिरि को, जो धर्‌यो कर छत्र पुरंदर धारन।

—❀—

कुंडलिया:— इस छन्द में पहिले एक दोहा और फिर रोला के चार चरण रहकर छै चरण रहते हैं। दोहे का अंतिम चरण रोले के प्रथम चरण के आदि में रहता है और रोले के अंतिम चरण का आधा अथवा उसके कुछ शब्द वे ही होते हैं जो दोहे के आदि में होते हैं। जैसे:—

दौलत पाय न कीजिए, सपनेहु मैं अभिमान।
चंचल-जल दिन चारि कौ, ठाँव न रहत निदान।
ठाँव न रहत निदान, जियत जग मैं जस लीजै।
मीठे बचन सुनाय विनय सब ही की कीजै।
कह गिरधर कविराय अरे! यह सब घट तौलत।
पाहुन निसि-दिन चारि रहत सब ही के दौलत।

—❀—

राधिका छंद— इसे लावनी भी कहते हैं, इसके प्रत्येक पद में १३

और ९ मात्राओं पर यति के साथ २२ मात्रायें होती हैं। जैसे:—

पति चली अपति अब होन, विपति अति घेरी।
तुम वेगि द्वारिका-नाथ, लेहु सुधि मेरी।

—❀—

चौपय्या— १०, ८ और १२ मात्राओं पर यति के साथ ३० मात्राओं का छंद है, अन्त में रगण और एक दीर्घ भी रहता है। जैसे—

भये प्रकट कृपाला, दीन दयाला कौशल्या हितकारी,
हरषित महतारी मुनि मनहारी अद्भुत रूप निहारी।

× ×

नोट:—इसमें यति पर अनुप्रास रखने से लालित्य बढ़ जाता है।

—❀—

रूप माला:—चौदह और दस मात्राओं पर विराम के साथ अंत में एक गुरु और एक लघु रखता हुआ चौबीस मात्राओं का यह छंद होता है। जैसे:—

यज्ञ-मंडल में हुते रघुनाथ जू तेहि काल।
चर्म अङ्ग कुरङ्ग को, शुभ स्वर्ण की सँग वाल।

—❀—

गीतिका:— चौदह और बारह के विराम से अंत में एक लघु और एक दीर्घ वर्ण रखता हुआ छब्बीस मात्राओं का छंद है। इसमें तीसरी, दसवीं, सत्राहवीं और चौबीसवीं मात्रा सदैव लघु रहती हैं। अंत में रगण का रखना अच्छा है। यति कभी-कभी बारह और चौदह मात्राओं पर भी होती है। जैसे:—

पाइकै नर-जनम जग मैं, राम के गुन गाइये,
बिन भजन भगवान के, जीवन न व्यर्थ गंवाइये।

—❀—

बरवैः— प्रथम और तृतीय चरण में बारह मात्रायें और द्वितीय और चतुर्थ में सात मात्राओं के साथ द्वितीय और चतुर्थ चरण के अंत में जगण (।ऽ।) रखता हुआ यह छन्द होता है। जैसेः—

गरब करहु रघुनन्दन जनि मन मांहि।
देखहु आपनि सूरति सिय कै छांहि॥

—※—

दोहाः—विषम चरणों में तेरह और सम चरणों में ग्यारह मात्राओं के साथ, विषम चरणों के आदि में जगण और सम चरणों के अंत में तगण या जगण रखते हुए चौबीस मात्राओं का छंद है। विहारी, बृन्द रहीम आदि कवियों ने इसका बहुत प्रयोग किया है। जैसे:—

राम नाम मणि दीप-धरि, जीह-देहरी द्वार।
'तुलसी' बाहर भीतरहु, जो चाहसि उजियार।
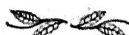
मुद्रकः— आर, यन, गर्ग, गर्ग प्रेस, ५, बैंक रोड, प्रयाग।